इलाचंद्र जोशी

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ – रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख ।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ईसवी
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

इलाचंद्र जोशी

लेखक

राजेन्द्र कुमार

साहित्य अकादेमी

Ilachandra Joshi : A monograph by Rajendra Kumar in Hindi on the modern Hindi author. Sahitya Akademi, New Delhi (1993), Rs. 15.

प्रथम संस्करण : १९९३

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, ३५, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१

विक्रय विभाग : 'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, २३ ए/४४ एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता ७०० ०५३

१७२, मुम्बई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई ४०० ०१४

३०४-३०५, अन्ना सलाई, तेनामपेट, मद्रास ६०० ०१८

ए. डी. ए. रंगमन्दिर, १०९, जे. सी. मार्ग, बंगलौर ५६० ००२

मूल्य : पन्द्रह रुपये

ISBN 81-7201-413-9

लेज़रसैटिंग : मैरिट ग्राफ़िक्स, नयी दिल्ली ११० ०२८

मुद्रक : सुपर प्रिंटर्स, दिल्ली ११० ०५१

आदरणीय रघुवंश जी को --

जिनसे सीखा कि साहित्य का मर्मज्ञ होने के दावे से

कहीं ज़्यादा अर्थवान् होती है

साहित्य के प्रति ममतालु होने की अनुभूति !

आमुख

साहित्येतिहास और आलोचना का एक सरोकार बेशक यह भी होता है कि वह दिखाये कि किसी काल-खंड में रचनात्मकता की ऊँचाई की क्या अवधारणा संभव हुई और कौन-कौन से रचनाकार उस अवधारणा के कितने नज़दीक पहुँच सके। लेकिन किसी भी कालखंड के सारे रचनाकार एक-सी ऊँचाई पर तो पहुँच नहीं पाते। हमारा आलोचनात्मक विवेक किसी रचनाकार के साथ अन्याय न कर सके, इसके लिए यह सावधानी बरतना ज़रूरी होता है कि हम उन कृती व्यक्तियों की प्रतिभा के दाय को भी परखते चलें, जो अपने समय की रचनात्मकता की किसी सर्वोपरि चोटी तक भले ही न पहुँच सके हों लेकिन जिन्होंने अपने समय की रचनात्मकता को अभिनव मोड़ देने में प्रवर्तनकारी भूमिका निभाई हो। साथ ही आलोचना की गंभीरता का पता इस बात से भी चलता है कि किसी क्षेत्र में लेखक की सफलता-असफलता को उसने कितने वस्तुगत परिप्रेक्ष्य में देखा है। सिर्फ़ ताली बजाने का मौक़ा पाने के लिए जो आलोचना किसी लेखक की सफलता या असफलता की टोह में रहती है, वह मिथ्या आलोचना होती है। दुर्योग से इलाचंद्र जोशी ऐसी मिथ्या आलोचना के शिकार अपने जीवन-काल में भी होते रहे और बाद में भी।

प्रेमचंद-परवर्ती कथा-पीढ़ी में जिस कलात्मक ऊँचाई को जैनेंद्र और अज्ञेय ने प्राप्त किया, आलोचकों की नज़र में जोशी जी उस ऊँचाई पर स्थान पाने के अधिकारी नहीं हो सके। लेकिन इस तथ्य से जोशी जी के कृतित्व का महत्त्व कम नहीं हो जाता है। जोशी जी को व्यक्तिवादी कथाकारों की परंपरा में रखा जाता है—जिसमें जैनेंद्र और अज्ञेय भी आते हैं लेकिन इस परंपरा के अंतर्गत जोशी जी के सर्जक व्यक्तित्व की अद्वितीयता इस विशेषता में निहित है कि जोशी जी व्यक्तिवादियों में सबसे कम व्यक्तिवादी हैं अथवा यों कहें कि व्यक्तिवादियों में सबसे ज़्यादा सामाजिक हैं।

उनके कलाकार व्यक्तित्व के ऐसे ही सामाजिक व्यक्तिवादी स्वरूप को इस

पुस्तक में उनके जीवन और सर्जन के कई पहलुओं में झाँककर देखने की विनम्र चेष्टा की गई है। इस चेष्टा को जोशी जी के जीवन-संबंधी कई अज्ञात अथवा अल्पज्ञात तथ्यों से अवगत कराकर जो सहयोग जोशी जी की धर्मपत्नी श्रीमती हरिप्रिया जोशी तथा जोशी जी के साहित्य-प्रेमी भतीजे श्री भुवनचंद्र जोशी ने दिया, उसके लिए यह लेखक उन दोनों का हृदय से आभारी है।

दिसंबर १, १९८९
इलाहाबाद

राजेन्द्र कुमार

अनुक्रम

पूर्व-परिदृश्य और नई आहटें

'गोदान' के प्रकाशन से लगभग सात वर्ष पूर्व प्रेमचंद ने जैनेंद्र को लिखे अपने एक पत्र में यह विश्वास व्यक्त किया था : 'हिंदी उपन्यास अब चेतेगा, इसमें सन्देह नहीं।' इस विश्वास के भावी छोर उस समय तक चाहे कितने ही अस्पष्ट रहे हों, लेकिन इसमें उस समय के रचना-परिदृश्य के बारे में दो बातों की अनुगूँज बहुत स्पष्ट है। एक तो यह कि हिंदी में उपन्यास-विधा द्वारा अपना एक पुष्टतर व्यक्तित्व अर्जित कर लिए जाने के बावजूद सन् १९२९-३० से पहले तक की औपन्यासिक उपलब्धियों में चेतना के स्तर पर कहीं कोई कमी प्रेमचंद को भी खटकती रही थी। प्रेमचंद स्वयं भी अब अपनी रचना-यात्रा के एक ऐसे पड़ाव पर थे, जहाँ रचनागत संवेदना और जीवनगत यथार्थ के रिश्तों को लेकर आत्मविश्लेषण की प्रक्रिया से गुज़रना उनके लिए ज़रूरी हो गया था। दूसरी बात यह कि साहित्य की देहरी पर उसी समय कुछ ऐसी आहटें भी सुनाई पड़ने लग गई थीं, जिनसे उपन्यास में चेतना के नये संचार के आसार नज़र आने लगे थे। गहन आत्म-विश्लेषण की प्रक्रिया से गुज़र रहे प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि में जिन यथार्थवादी तत्वों का सन्निवेश हो रहा था, उनका अंतिम और अन्यतम सृजनात्मक प्रतिफल 'गोदान' के रूप में सामने आना अभी शेष था। मगर जो नई आहटें सुनी जा रही थीं, उनमें से कुछ ऐसे सर्वथा तरुण लेखकों के रचनात्मक कदमों की आहटें भी थीं, जिनकी औपन्यासिक कृतियाँ अभी उनके प्रथम प्रयास के तौर पर ही सामने आई थीं। इलाचंद्र जोशी उस समय ऐसे ही तरुण लेखकों में से एक थे। 'घृणामयी' नाम से उनका पहला उपन्यास सन् १९२९ में प्रकाशित हुआ था। उसी वर्ष जैनेंद्र की पहली कृति 'परख' भी प्रकाशित हुई थी। 'परख' की तो समीक्षा भी प्रेमचन्द ने लिखी थी और अपने उस पत्र में, जिसकी तरफ़ ऊपर इशारा किया जा चुका है, उन्होंने 'परख' की गणना हिंदी की उन चुनिंदा पुस्तकों ('गढ़कुंडार', 'कंकाल', 'शराबी' आदि) के अंतर्गत की थी, जिनका 'एक साल के अंदर निकल जाना' उनकी निगाह में 'भविष्य के लिए शुभ लक्षण' था।

'घृणामयी' का वैसा स्वागत हिंदी जगत् में नहीं हुआ जैसा 'परख' का। 'परख' को जैनेंद्र का पहला उपन्यास होने के बावजूद एक सफल कृति के रूप में मान्यता मिली। 'घृणामयी' में कला और संवेदना के स्तर पर एक लेखक की प्रारंभिक कृति होने की सीमाएँ ही अधिक सामने आ सकीं। लेकिन कथा-चेतना के युगीन स्फुरण का तत्कालीन स्वरूप पहचानने की दृष्टि से उसे एकदम उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। आदर्शवादी जीवन-दृष्टि की मर्यादा और पश्चिमी आचार-विचारों के आकर्षण का द्वंद्व (जो 'घृणामयी' में चित्रित हुआ) उस दौर की समूची चेतना को अनुभव के जटिल यथार्थ से गुज़ारने की तैयारी कर चुका था। उसे कथा-विधा में अभिव्यक्त कर पाने के लिए सामाजिक यथार्थ के सरल चित्रण से अब काम नहीं चलने वाला था। नया जीवनानुभव रचना में ढलने की अपेक्षित दिशा पाने को आतुर था। हालांकि इस दिशा में नये रास्ते खुलने का तथ्य सबको पूर्णतः आशान्वित करने वाला ही रहा हो, यह आवश्यक नहीं था।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में आधुनिक युग के तृतीय उत्थान (सं० १९७५) में जब गद्य-साहित्य की गति का विवरण देते हैं, तो लिखते हैं, "इसी में आकर हिन्दी गद्य-साहित्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के भीतर अनेक नये रास्ते खुले, जिनमें से कई एक पर विलायती गलियों के नाम की तख्तियाँ भी लगीं।" तत्कालीन उपन्यास के क्षेत्र में शुक्ल जी का पर्यवेक्षण यह है – 'एक ओर प्रेमचंद ऐसे प्रतिभाशाली उपन्यासकार हिन्दी की कीर्ति का देशभर में प्रसार कर रहे हैं, दूसरी ओर कोई उनकी भरपेट निंदा करके टॉल्स्टाय का "पापी के प्रति घृणा नहीं, दया" वाला सिद्धान्त लेकर दौड़ता है। एक दूसरा आता है जो दया वाले सिद्धान्त के विरुद्ध योरुप का साम्यवादी सिद्धान्त ला भिड़ाता है और कहता है कि गरीबों का रक्त चूसकर उन्हें अपराधी बनाना और फिर बड़ा बनकर दया दिखाना तो उच्चवर्ग के लोगों की मनोवृत्ति है। वह बड़े जोश के साथ सूचित करता है कि इस मनोवृत्ति का समर्थन करने वाला साहित्य हमें नहीं चाहिए, हमें तो ऐसा साहित्य चाहिए जो पददलित अकिंचनों में रोष, विद्रोह और आत्मगौरव का संचार करे और उच्चवर्ग के लोगों में नैराश्य, लज्जा और ग्लानि का।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ३६४)।

उपर्युक्त पर्यवेक्षण में न केवल तत्कालीन उपन्यासकारों के वैचारिक द्वंद्व की वास्तविकता अंतर्निहित है, बल्कि स्वयं उस समय के आलोचक और

साहित्येतिहास-लेखक की दृष्टि का ऊहापोह भी इसमें पहचाना जा सकता है। इसी ऊहापोह से होकर गुज़रने में शुक्ल जी को यह स्पष्टीकरण देने की जरूरत महसूस हुई होगी – "हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि योरुप के साहित्य-क्षेत्र में उठी हुई बातों की चर्चा हमारे यहाँ न हो। यदि हमें वर्तमान जगत् के बीच से अपना रास्ता निकालना है, तो वहाँ के अनके 'वादों' और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय हमें होना चाहिए।" (उप., पृ. ३६४) ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जो रचनाकार टॉल्स्टाय आदि के सिद्धान्तों से प्रेरित और उद्भावित हो रहे थे, वे प्रेमचंद की 'भरपेट निंदा' करने वाले ही हों, यह न मान बैठना चाहिए। हो सकता है, सन् १९१८ ई. के बाद वाले जिस काल-खंड को शुक्लजी ने आधुनिक युग के तृतीय उत्थान के रूप में लक्षित किया है, उसके कुछ वरसों तक यह स्थिति रही हो। लेकिन सन् १९३० के आसपास वातावरण बदलने लगा था। प्राचीन से नवीन साहित्य को अलगाने की चेष्टा में प्रेमचंद के ये कथन इस सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं – 'नवीन साहित्य की रुचि में बिल्कुल यही विकास नज़र आ रहा है। वह अब आदर्श चरित्रों की कल्पना नहीं करता।' (विविध प्रसंग, खंड ३, पृ. ५३) तथा 'प्राचीन साहित्य धर्म और ईश्वर-द्रोहियों के प्रति घृणा और उनके अनुयायियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भावों को सृष्टि करता रहा। नवीन साहित्य समाज का खून चूसने वालों के विरुद्ध उतने ही ज़ोर से आवाज उठा रहा है और दीनों, दलितों, अन्याय के हाथ सताये हुओं के प्रति उतने ही जोर से सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है।' (उप., पृ. ५७)। इतना ही नहीं, रचना में पात्र-चयन के संदर्भ में दया और घृणा में से किसी एक को आधार बनाकर काम चला लेना भी उन्हें नयी रचना-दृष्टि के अनुकूल नहीं प्रतीत होता। दया, करुणा, प्रशंसा, भक्ति जैसे आदर्श-व्यवहार-जन्य समझे जाने वाले भावों के प्रति प्रेमचंद अब मोह नहीं रखते, बल्कि उनको द्वंद्वात्मक परिप्रेक्ष्य में देखने पर बल देते हुए कहते हैं, 'अंधी दया अपने पात्र को पुरुषार्थहीन बना देती है, अंधी करुणा कायर, अंधी प्रशंसा घमंडी और अंधी भक्ति धूर्त।' (उप., पृ. ५६)। प्रेमचंद के इन कथनों से पता चलता है कि बदलती हुई रचना-दृष्टि को अपने विवेक का अंग बनाने में प्रेमचंद भी उतना ही उत्साह दिखा रहे थे, जितना उस काल के नये लेखक। अकारण नहीं है कि आचार्य शुक्ल के किंचित् शिकायती से लगने वाले स्वरों के बीच यह स्वीकृति भी अपने लिए जगह बनाने लगी थी कि 'सत् और

असत्, भला और बुरा, दो सर्वथा भिन्न वर्ग करके पात्र-निर्माण करने की अस्वाभाविक प्रथा भी इस तृतीय उत्थान में बहुत कुछ कम हुई है।' (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. ३६७)।

सच तो यह है कि मनुष्य-जीवन हमेशा और हर जगह 'खुली किताब' नहीं होता। ख़ासतौर से बदलती हुई परिस्थितियों में, जब वह सरलता से जटिलता की ओर बढ़ रहा हो तो किसी भी व्यक्ति के व्यवहार को सामाजिक नैतिकता या अनैतिकता के खाते में दर्ज़ कर देने भर से किसी की जिम्मेदारी पूरी नहीं हो जाती। प्रेमचंद 'प्युरिटन मनोवृत्ति' के रूप में इस प्रवृत्ति के अनौचित्य को पहचान रहे थे–'प्युरिटन मनोवृत्ति जैसे इस ताक में रहती है कि किसका पाँव फिसले और वह तालियाँ बजाये। प्युरिटनिज़्म और अनुदारता, दो पर्याय-से हो गये हैं और जहाँ सैक्स का प्रश्न आ जाता है, वहाँ तो नंगी तलवार, बारूद का ढेर है। पुरुषों के लिए तो चाहे किसी तरह क्षमा सुलभ भी हो जाय, किन्तु स्त्रियों के लिए क्षमा के द्वार बंद हैं।' अमृतराय ने प्रेमचंद के ऐसे ही अनेक वक्तव्यों के हवाले से बदलते हुए युग-बोध का प्रभावी स्वरूप इन शब्दों में वर्णित किया है – 'अपनी नयी संवेदना की तरंग में मुंशी जी बहते चले आ रहे हैं। उन्हें यह भी शायद ख़्याल नहीं है कि अब से चौदह-पन्द्रह बरस पहले उनकी दृष्टि भी किसी प्युरिटन से कम न थी। लेकिन तबसे समय आगे बढ़ आया है। फ्रायड ने दुनिया की जड़ों को हिला दिया है, तमाम भारी-भारी मगर सड़े हुए बदबूदार पर्दे नोचकर फेंक दिये हैं'... (कलम का सिपाही, पृ. ५१९)।

निष्कर्ष यह कि मानवीय व्यवहार को एक नई रोशनी में देखने की माँग युगीन परिस्थितियों ने पैदा की थी। महसूस किया जाने लगा था कि कई बार किसी व्यक्ति का जो व्यवहार एकदम अस्वाभाविक और असामान्य लगता है, उसके अंतर्मन में गहरे झाँक आने पर तदनुसार वही व्यवहार एकदम स्वाभाविक और सामान्य प्रतीत होने लगता है। 'घृणामयी' की नायिका को जोशी जी ने संभवतः तत्कालीन संक्रमणशील मानसिकता के दौर में उन्मुक्त व्यक्तित्व की कामना करने वाली नारी के अंतर्मन में झाँकने की कोशिश में ही प्राप्त किया होगा। भले ही वह कोशिश कितनी ही कच्ची क्यों न रही हो।

प्रेमचन्द ने 'घृणामयी' का ज़िक्र कहीं किया हो, ऐसा हवाला हमें नहीं मिलता। लेकिन प्रेमचंद की कुछ समीक्षात्मक टिप्पणियों से यदि सामान्य निष्कर्षों तक

पहुँचने का यत्न किया जा सके तो पता चलेगा कि 'घृणामयी' जैसा उपन्यास लिखे जाने की मनोभूमि एक ऐसे रचनात्मक परिदृश्य का हिस्सा थी, जो प्रेमचंद के मन में विश्वास ही नहीं, बल्कि विस्मय का भाव भी जगा रहा था। 'घृणामयी' में इसके लेखक की जिस कोशिश की ओर हमने इशारा किया, वह कोशिश इलाचंद्र जोशी की कथा-चेतना का नितान्त निज-बद्ध अनुषंग रही हो, ऐसा नहीं था। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, वस्तुतः उसका एक सामयिक परिप्रेक्ष्य था, जो भाव-बोध के स्तर पर समझदारी और संवेदना की नई माँग से बना था। प्रेमचंद ने जैनेंद्र के 'परख' उपन्यास की समीक्षा करते हुए फ़रवरी १९३१ में जो टिप्पणी लिखी थी, उसमें जैनेंद्र की भाषा, शैली और चरित्र-चित्रण की सजीवता, आकर्षकता तथा मार्मिकता पर मुग्ध होने के बावजूद लेखक द्वारा चित्रित कट्टो और बिहारी के संबंधों पर एक 'मगर' भी चस्पां कर दिया था – 'मगर यह नई विवाह-प्रथा हमारी समझ में नहीं आई।' ('विविध प्रसंग' पृ. - ३३६)। प्रेमचंद को यदि 'घृणामयी' से परिचित होने का मौक़ा मिला होता, तो भी यह 'मगर' उन्हें कुछ कम परेशान न करता। (बल्कि जोशी जी के बाद के उपन्यासों–जैसे 'सन्यासी' और 'प्रेत और छाया' में, स्त्री-पुरुष-संबंधों के चित्रण में यह 'मगर' उन्हें और भी अधिक परेशान करने वाला होता क्योंकि वहाँ तो विवाह के पीछे कार्यरत कारण भी एक-से-एक विचित्र बताये गये हैं।) दरअसल, प्रेमचंद का यह 'मगर' उस विस्मय का अभिव्यंजक है, जो भावों और विचारों में सामाजिक एवं वैयक्तिक चेतना के किसी नये संतुलन के न बन पाने के कारण उस समय की द्वंद्वग्रस्त मनः स्थिति का साक्षी था। साथ ही यह इस तथ्य का भी संकेतक है कि प्रेमचंदयुगीन रचना-दृष्टि सामाजिक यथार्थ के धरातल पर मानवीय संबंधों का सहज-स्वीकृत और स्वाभाविक चित्रण करने की अभ्यस्त थी। जबकि अब कथा-चेतना में एक ऐसी लहर आ चुकी थी, जो संबंधों के सामाजिक विस्तार को आयत्त करने से कहीं ज्यादा उनकी मनोवैज्ञानिक गहराई में आना ज़रूरी मानने लगी थी। यह लहर उपन्यास की केंद्रीय वस्तु को समाज-चिंता से व्यक्ति-चिंता की ओर ठेलने का काम कर रही थी। प्रेमचंद की परम्परा से उपन्यास का यह विचलन आगे के विकास के लिए भटकाने वाला मोड़ साबित हुआ या बीच का एक ज़रूरी सोपान–यह बहस का विषय है। लेकिन यह निर्विवाद है कि इस विचलन को बदलती हुई परिस्थितियों में उभर रही व्यक्तिवादी चेतना का सहयोग पूरी तरह प्राप्त था।

देश के आर्थिक और राजनीतिक जीवन में तेजी से घटित हो रहे परिवर्तनों का दबाव बीसवीं शदी के तीसरे दशक से ही हमारे सामाजिक अस्तित्व को कुछ और भी अधिक तीव्रतर होता महसूस होने लगा था। संस्कृति के कृषि-प्रधान और सामंती ढाँचे के भीतर विकसित हुई सामाजिक मूल्य-दृष्टि से जुड़ी नैतिक मर्यादाएँ अब संकट में पड़ रही थीं। इस संकट के प्रति चूँकि हमारे समाज का शिक्षित मध्यवर्ग विशेष रूप से संवेदनशील था, इसलिए भावनाओं, विचारों और व्यवहारों में होने वाली उथल-पुथल का आश्रय-स्थल भी विशेष रूप से उसी का अंतर्मन बना। वह अपनी आशाओं-आकांक्षाओं को नव-विकसित पूँजीवाद के देसी ढाँचे में फलीभूत होते देखने को अकुला उठा और पश्चिम से आते हुए ज्ञान-विज्ञान का भरपूर उपयोग करके अपने जीवन में वैयक्तिक उल्लास की कामना करने लगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये स्थितियाँ व्यक्तिवाद के लिए कितनी अनुकूल थीं।

इस व्यक्तिवादी उन्मेष से जहाँ बुद्धि, निपुणता और जीवन-स्तर आदि के क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त करने की होड़ बढ़ रही थी, वहीं सामाजिक उद्देश्योन्मुखता का अस्तित्व खतरे में पड़ रहा था। व्यक्तिवादी चेतना को बहुधा सामाजिक यथार्थ के साक्षात्कार की अक्षमता के लिए ही कोसा जाता है। लेकिन इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वह वैयक्तिक यथार्थ का कोई अखंड या अविच्छिन्न रूप हमारे सामने रख पाने में सर्वदा समर्थ ही होती है। उसकी क्रमिक परिणति जिन जटिलताओं में होती है, उनका प्रहार सामाजिक यथार्थ को ही नहीं, वैयक्तिक यथार्थ को भी झेलना पड़ता है। सामान्यतया व्यक्तिवाद की यह प्रवृत्ति होती है कि वह मर्यादाओं का नियमन करने वाली सामाजिक सचेतनता और स्वच्छंद व्यवहारों के लिए छूट देने वाले वैयक्तिक मनः प्रवाह के बीच का अंतर बढ़ता देखने को अपनी नियति मानकर चलता है। इस अंतर की वैज्ञानिक व्याख्या के लिए आधुनिक विचारकों को जिन सैद्धांतिक आधारों की ज़रूरत थी, उनमें से एक उन्हें मनोविश्लेषणशास्त्र के रूप में प्राप्त हुआ। तीसरे दशक के अंतिम चरण से हिंदी कथाजगत् में इलाचंद्र जोशी ने जिस रचनात्मक हस्तक्षेप से अपनी शुरुआत की थी, उसकी मनोविश्लेषणात्मक अभिवृत्ति का बुनियादी प्रेरणा-बिंदु संभवतः इसी तथ्य के आस-पास कहीं रहा होगा।

नाना चक्रों के फेर

माघ का महीना, उजाले पाख की त्रयोदशी, संवत् १९५९। तदनुसार १३ दिसंबर १९०२। इसी तिथि को अल्मोड़ा के एक सुसंस्कृत मध्यवर्गीय परिवार में एक बालक जन्मा। इस बालक के भविष्य के बारे में उसके माता-पिता (श्रीमती लीलावती जोशी—श्रीचंद्रवल्लभ जोशी) की आँखों में क्या सपने आये होंगे, हमें नहीं पता। लेकिन वही बालक इलाचंद्र जोशी के नाम से हिंदी कथासाहित्य को अपनी विशिष्ट प्रतिभा से समृद्ध करने वाले एक प्रतिष्ठित रचनाकार के रूप में आज सर्वविदित है। एक अबोध बालक से एक प्रबुद्ध रचनाकार में रूपांतरित होने की कहानी कितनी विस्तृत है, इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि उसके फलक पर न केवल अल्मोड़ा, कलकत्ता, बम्बई और इलाहाबाद आदि स्थानों की दूरियाँ बल्कि कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना, पत्रकारिता और अनुवाद आदि अलग-अलग विधावृत्तों की दूरियाँ भी नपती चली जाती हैं। जोशी जी के प्रसिद्ध उपन्यास 'संन्यासी' का कथानायक एक जगह कहता है, 'मैं जीवन में नाना चक्रों के फेर में पड़कर दीर्घ अनुभव के बाद इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि रात-दिन जीवन की छोटी-सी-छोटी, तुच्छ से तुच्छ बातों से मनुष्य की यथार्थ प्रकृति का वास्तविक परिचय प्राप्त होता हैं। यहाँ जोशी जी अपने कथानायक के बहाने मानो स्वयं अपने ही जीवन-क्रम का सूत्रात्मक परिचय दे रहे हैं। किताबों की मार्फ़त जीवन को जानने का चस्का उन्हें बचपन से ही लग चुका था। 'मनुष्य की यथार्थ प्रकृति का वास्तविक परिचय' प्राप्त करने में काम आने वाली अनेक बातों से उनकी अवगति निरी 'किताबी' बनकर ही रह गई होती, यदि उन्हें खुद अपने जीवन में 'नाना चक्रों के फेर' में न पड़ना पड़ता।

अल्मोड़ा के प्राकृतिक परिवेश ने शैशव से ही जोशी जी के व्यक्तित्व को एक विशेष प्रकार की संवेदनीयता दी। हालाँकि उन्होंने जब होश सँभाला और अपने भीतर एक लेखक को उभरते महसूस किया तो उन्हें अपना जन्मस्थान कुमाऊँ प्रदेश में होने के कारण कुछ बाधाएँ भी महसूस हुईं। बौद्धिक निराशा के क्षणों में अक्सर आत्म-हत्या तक का विचार उनके मन में आ जाया करता था। रचना में यथार्थवादी अभिव्यक्ति के जिस व्यापक स्वरूप को पाने की ललक उनमें थी, उसको देखते हुए उन्हें कुमाऊँनी भाषा और कुमाऊँ के क्षेत्रीय अनुभव बहुत सीमित मालूम होते थे। उनके मन का यह बचकाना खेद शुरू में

बहुत सालता रहा कि उनका जन्म हिंदी प्रदेश के किसी गाँव में क्यों न हुआ। लेकिन उनके जन्मस्थान ने मानो इसी क्षति की पूर्ति के लिए पहाड़ी क्षेत्र के अनिर्वचनीय सौंदर्य और पहाड़ी जीवन के भोलेपन की सौगात उन्हें सौंप रखी थी। इसी सौगात को सहेजने के क्रम में उन्होंने अपने काव्य-बोध का विकास किया। 'विजनवती' नामक उनके कविता-संग्रह की अनेक रचनाएँ छायावादी संस्कार में जिस 'नास्टेल्जिया' की अभिव्यक्ति हैं, उसे पहचान पाना मुश्किल नहीं है।

मेरे इस निर्जन-निकुंज में
आओ आओ परदेशी !
नये सिकोरे में शीतल जल
तुम पी जाओ परदेसी !

अथवा,

आओ बैठो थक्ति हुए हे
· पाँव पसारो परदेशी !
घर की तीखी करुण बेकली
तनिक बिसारो परदेसी !

('सेविका' शीर्षक कविता)

'विजनवती' की भूमिका में अपनी एक कविता ('राजकुमार') के बारे में जोशी जी लिखते हैं, 'जो अनुभव मेरी कविता के रूपकात्मक राजकुमार को हुआ है, मेरी धारणा है कि अधिकांश भावुक व्यक्तियों को अपने जीवन के मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विकास में ठीक वैसा ही अनुभव होता है। शैशवावस्था से लेकर किशोरावस्था तक भावुक व्यक्ति की आत्मा निष्कलुष जीवन की पुनीत धारा में निर्द्वंद्व रूप से तरंगायमान होती रहती है और उसके अंतर्जीवन का रूप-रंग-रहित निर्मल वातावरण शुभ्र-पुण्य की स्वच्छ, सुशीतल, तुषारोज्ज्वल महिमा से मंडित रहता है।' ('विजनवती', पृ.- २१)। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस 'भावुक व्यक्ति' का उल्लेख जोशी जी यहाँ कर रहे हैं वह उस जोशी से एकदम अभिन्न है, जिसका 'शैशवावस्था से किशोरावस्था तक' का जीवन अल्मोड़ा के सुरम्य और शांत वातावरण में ही बीता है।

उन्हीं दिनों उनका परिचय 'सरस्वती' पत्रिका से हुआ। इस परिचय का ज़िक्र आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पर लिखे अपने एक संस्मरण में जोशी जी इस तरह करते हैं—'बचपन के उन सुनहरे दिनों को मैं कभी भुला नहीं पाता जब साहित्य के द्वार पर खड़े होने की

बुद्धि मुझमें जग चुकी थी और उस द्वार के उस पार की अपार विस्तृत और अनंत रहस्यमय झाँकी मुझे बरबस अपनी ओर आकर्षित करने लगी थी। उस अज्ञात और अपरिचित आनंदलोक के भीतर प्रवेश करने के लिए केवल एक ही पासपोर्ट मेरे पास था। पीले रंग में रंगे हुए मनोरम आर्ट पेपर के सचित्र आवरण-पृष्ठ से मंडित मासिक पत्रिका 'सरस्वती'। (साहित्य-चिंतन, पृ. - ११७)। 'सरस्वती' के संपादक आचार्य द्विवेदी को तो जोशी जी मन ही मन अपना 'भगवान' मानने लग गये थे। अपनी रचनाएँ छपाने की ललक जब जोशी जी के मन में जागी तो पहले-पहल उन्होंने अपनी दो-तीन रचनाएँ 'सरस्वती' में ही भेजी थीं। पर प्रत्येक रचना द्विवेदी जी द्वारा लिखे गये स्नेहपूर्ण शब्दों के साथ वापस चली आती थी। अपने 'भगवान' के दुर्लभ हस्ताक्षरों से युक्त पत्रों को ही अपने जीवन की 'अमूल्य निधि' मानकर जोशी जी ने संतोष कर लिया। अल्मोड़े से बाहर के किसी पत्र में रचना भेजने का उनका उत्साह फ़िलहाल बुझ - सा गया।

अल्मोड़ा से उन दिनों श्री बदरीदत्त पांडे द्वारा संपादित एक साप्ताहिक पत्र निकलता था-'अल्मोड़ा अखबार'। इसी स्थानीय पत्र में जोशी जी की एक कविता छपी जिसे उनकी प्रथम प्रकाशित रचना होने का श्रेय मिला। 'अल्मोड़ा अखबार' का प्रचार अल्मोड़ा ज़िले के गाँवों में भी था। गाँव में रहने वाले जोशी-परिवार के कई रिश्तेदारों की नज़र से वह कविता गुज़री और उन्होंने किशोर कवि इलाचंद्र के घर आकर उसे उस कविता के लिए खूब बधाई दी। इससे उसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला और उसने अपने मन को समझाया कि 'सरस्वती' से रचनाओं की वापसी को लेकर खिन्न होना ठीक नहीं है। अल्मोड़ा से बाहर किसी प्रतिष्ठित पत्रिका में अपनी रचनाएँ भेजने का उत्साह फिर जागा। श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के संपादकत्व में कानपुर से निकलने वाले प्रसिद्ध पत्र 'प्रताप' के लिए उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत अपनी कुछ कविताएँ भेजीं। 'प्रताप' में उन्हें सम्मानपूर्ण स्थान मिला। हौंसला और बढ़ा। इसी बीच कुछ कहानियाँ भी लिखीं और 'सरस्वती' में इस बार दो-एक कहानियाँ भेजकर पुनः आजमाना चाहा लेकिन द्विवेदी जी की कसौटी पर ये कहानियाँ भी खरी नहीं उतरीं।

सन् १९१४ में इलाचंद्र का वय मात्र बारह वर्ष का था जब उनकी 'सजनवाँ' शीर्षक एक कहानी काशी से निकलने वाली पत्रिका 'हिन्दी गल्पमाला' में छपी। इलाचंद्र जोशी की कहीं भी प्रकाशित होने वाली यह पहली कहानी थी। इसमें भी लेखक के किशोर मन की भावुकता ही अधिक अभिव्यक्त हुई थी लेकिन संपादक अंबिका प्रसाद गुप्त ने जिस मुक्त भाव से इसकी सराहना की, उससे लेखक को अपनी रचनात्मक उड़ान के

लिए मानों पंख ही मिल गये। बाद में यह जानकर कि 'हिन्दी गल्पमाला' का संबंध सुप्रसिद्ध रचनाकार जयशंकर प्रसाद से है, उदीयमान लेखक इलाचंद्र का मन आत्म-गौरव के भाव से और भी अधिक भर उठा। वह छायावाद का युग था और उन दिनों के इलाचंद्र में छायावादिता की कमी नहीं थी। वे छायावादी भाषा में जमकर कहानियाँ लिखते गये।

अब अल्मोड़ा से बाहर कई पत्र-पत्रिकाओं में अपनी रचनाएँ छपी देखने की उनकी साध पूरी हो रही थी। लेकिन अल्मोड़ा से बाहर की दुनिया को देखने की लालसा अभी भी उनको बेचैन किये हुए थी। मैट्रिक पास करते ही वे अल्मोड़ा से बाहर निकलने की सोचने लगे। पारिवारिक स्थितियाँ भरण-पोषण के उपाय खोजने के लिये भी बाध्य कर रही थीं। मध्यप्रदेश की बस्तर रियासत में पहली नौकरी मिली टाइपिस्ट के पद पर। इस काल में कई बंगला ग्रंथों का अध्ययन किया। फिर वहाँ मन न लगने के कारण वापस लौट आये। इसी बीच पिता के निधन ने उनकी चिंताओं को और बढ़ा दिया। अठारह वर्ष की अवस्था में दूसरी नौकरी की शिमला में। 'ओरिएंटल कार्पेट्स' नामक अंग्रेजी कम्पनी में असिस्टेंट एकाउंटेंट के पद पर काम करते हुए यहाँ वे जिन व्यक्तियों के संपर्क में आये, उन पर आधारित कई रेखाचित्रात्मक कहानियाँ जोशी जी के कहानी संग्रह 'खंडहर की आत्माएँ' में संकलित हैं। शिमला में ही कुछ दिनों उन्होंने आर्मी हेडक्वार्टर में डिस्पैचर के पद पर भी कार्य किया। लगभग डेढ़ वर्ष के शिमला-प्रवास के बाद उनका मन वहाँ से भी उचट गया। उनका मुक्त स्वभाव उनको स्थायी रूप से कहीं टिकने नहीं देता था। उस समय की अपनी मनः स्थिति की याद ताज़ा करते हुए ही संभवतः 'विजनवती' की ये पंक्तियाँ जोशी जी ने लिखी होंगी–

मेरे मानस की कल हंसी
स्वच्छ सलिल कल - कंज बिसार
भर उड़ान चल पड़ी लूटने
महाकाश का विपुल प्रसार।

('विजनवती', पृ. - १९)

इस बार घर छोड़कर उन्होंने लम्बी यात्रा पर निकल पड़ने की ठानी। कालका मेल पकड़ी और जा पहुँचे कलकत्ता। उन दिनों का कलकत्ता, जब इलाचंद्र जोशी और बीसवीं शताब्दी, दोनों ही अपनी उम्र के तीसरे दशक में लगभग साथ-साथ ही प्रवेश कर रहे थे। कलकत्ता में उन्हें दो महत्त्वपूर्ण चीजें मिलीं-महानगरीय जीवन के यथार्थ का व्यापक अनुभव और बंगला के मूर्द्धन्य कथा-शिल्पी शरत्चन्द्र का साथ। 'जहाज का पंछी' उपन्यास के

अनुभवों की कथा-भूमि यही कलकत्ता है–'वह महानगरी जिसके कालाग्नि से जलते हुए महा पेट के भीतर नाना प्रकार की पीड़ाओं, असंतोषों, अत्याचारों और भोग-विलासों के सम्मिलित साधनों के मिश्रित रस निरंतर विभिन्न रूप में पचते चले जाते हैं।' ('जहाज का पंछी', पृ. - ३८२)। 'पल्लि समाज' और 'चरित्रहीन' जैसे प्रसिद्ध उपन्यास जोशी जी बहुत पहले ही पढ़ चुके थे। इन उपन्यासों का लेखक अब उनका आत्मीय था और कलकत्ता में कुछ समय तक उसके साथ फक्कड़ों की तरह रहते हुए उन्हें जीवन की कई सच्चाइयों का तीखा रूप देखने को मिला। शरत् के साथ हुई घनिष्ठता ने युवा जोशी के कलाकार मन को एक नया उभार दिया।

आजीविका के व्यवस्थित न होने की चिंता ने घेरना शुरू किया तो यहाँ जोशी के काम आई पत्रकारिता में उनकी गहरी रुचि। एक अनगढ़ पत्रकार तो उनमें तभी जन्म ले चुका था, जब वे अल्मोड़ा में मात्र सातवीं कक्षा के विद्यार्थी थे। 'सुधाकर' नाम की एक हस्तलिखित मासिक पत्रिका उन्हीं दिनों उन्होंने निकाली थी, जिसे सुमित्रानंदन पंत जैसे प्रतिष्ठित कवि और गोविंद वल्लभ पंत जैसे जाने-माने नाटककार की भी रचनाएँ छापने का गौरव मिला था। कलकत्ता पहुँचने पर जोशी जी को अपने भीतर के पत्रकार को प्रकट करने का व्यापक सुयोग मिला। 'कलकत्ता समाचार' नामक दैनिक पत्र में कुछ दिन उन्होंने काम किया। व्यावसायिक पत्रकारिता के क्षेत्र में यह उनका पहला अनुभव था। बाद में प्रयाग से प्रकाशित 'चाँद' से सहयोगी संपादक के रूप में संबद्ध हो गये। सन् १९२९ में 'सुधा' का संपादन शुरू किया। सैद्धांतिक मतभेद के कारण वहाँ से शीघ्र ही संबंध-विच्छेद कर लेना पड़ा। सन् १९३० में वे पुनः कलकत्ता गये और अपने बड़े भाई श्री हेमचंद्र जोशी के साथ 'विश्ववाणी' नामक मासिक पत्रिका निकाली। हेमचंद्र जी सिर्फ़ उनके बड़े भाई ही नहीं थे, बल्कि भाषा, साहित्य-चिंतन और पत्रकारिता के क्षेत्र में उनके अभिन्न सहयोगी भी थे। दोनों भाइयों की यह जोड़ी कुछ ऐसी निष्ठा से उन दिनों कार्यरत थी कि मिश्र-बंधु की तर्ज़ पर इसे जोशी-बंधु कहकर पुकारा जाने लगा। 'विश्ववाणी' का प्रथम अंक बड़ी सज-धज और आकर्षक रूप-सज्जा के साथ निकला। परन्तु दुर्योग से इस पत्र के प्रकाशन के साथ ही जोशी-बंधु एक विषम स्थिति में पड़ गये। इस पत्र में प्रकाशित, इलाचंद्र जी की एक कविता 'नृत्य' की कुछ पंक्तियों में तत्कालीन हुकूमत को राजद्रोह का स्वर सुनाई दिया और ब्रिटिश पुलिस-अफसरों के दमनकारी कदमों के कारण इस पत्र का प्रकाशन बंद कर देना पड़ा। वे पंक्तियाँ इस प्रकार थीं–

'नाचो नाचो, महाकाल तुम

खर मध्यान्ह गगन में
सूर्योज्ज्वल आंगन में
होकर दीप्त विजय में
नाचो रुद्र समुद्र-ताल में
निखिल सृष्टि के लय में !'

तत्पश्चात् उन्होंने 'विश्वमित्र' मासिक के संपादन का दायित्व सँभाला। सन् १९३४ तक वे इस पत्र से जुड़े रहे। फिर कुछ व्यक्तिगत कारणों से अलग होकर स्वतन्त्र लेखन करने लगे।

इसी बीच वे अपनी कविताओं के इकलौते संग्रह 'विजनवती' की पांडुलिपि तैयार कर चुके थे। इसके लिए प्रकाशक की खोज उन्हें इलाहाबाद खींच लाई। १९३६ में वे इलाहाबाद आए। पारिवारिक जिम्मेदारियाँ 'फक्कड़' जोशी को 'हिसाबी' जोशी बनाने पर किस क़दर आमादा थीं, इस संबंध में एक घटना यहाँ उल्लेखनीय हैं। राजनीति और साहित्य में समान रूचि रखने वाले श्री केशवदेव शर्मा उन दिनों इलाहाबाद में 'भारत' के प्रधान संपादक थे। उनसे जोशी जी का परिचय क्या हुआ कि जोशी जी ने उन्हीं के यहाँ अपना अड्डा-सा जमा लिया। जोशी जी उन्हें 'भारत' में छपने के लिए कुछ देते रहते। एक बार एक कहानी के पारिश्रमिक के रूप में उन्होंने आठ रुपये का मनीआर्डर जोशी जी के पास भेज दिया। तब तक जोशी जी अन्य जगहों से तीस रुपये प्रति कहानी पाने के आदी हो चुके थे। 'भारत' से आठ रुपये पाकर उन्हें अपना अपमान-सा महसूस हुआ और हँसी भी आई कि शर्मा जी इतने गहरे परिचय के बावजूद इलाचंद्र जोशी को सिर्फ़ आठ रुपये लायक समझते हैं। फिर यह सोचकर उन्होंने अपने मन को तसल्ली दे ली कि इसमें शायद शर्मा जी का दोष न हो, संभव है कि 'भारत' के प्रबंधकों की कृपणता इसके लिए ज़िम्मेदार हो। मगर फिर भी उनसे रहा न गया और एक रोज़ शर्मा जी से गपशप के दौरान आठ रुपये वाली बात वे कह ही बैठे। शर्मा जी ठठाकर हँस पड़े। बोले —'भई हमारे अखबार में आठ आने प्रति कालम की दर से लेखकों को भुगतान करने का नियम है। मैंने तुम्हारी कहानी नापी तो सोलह कालम से अधिक वह निकली ही नहीं। सो उसी नाप के हिसाब से मैंने भुगतान कर दिया।' कहानी का मूल्य कालम के हिसाब से नपते देखने का यह पहला अनुभव था। इस तरह इस लेखक को संपादक से ज़िंदगी में ही नहीं, साहित्य में भी हिसाबी होने का महत्त्व समझने की सीख मिली।

इलाहाबाद, जिसे शीघ्र ही उनका स्थायी कर्म-क्षेत्र बनना था, अब उन्हें किसी

न किसी रूप में अपने से संबद्ध रखना चाहता था। कुछ दिनों उन्होंने 'सम्मेलन पत्रिका' तथा 'भारत' में काम करते हुए अपनी सृजनात्मकता का मार्ग प्रशस्त किया। इलाहाबाद में ही उनके द्वारा निकाले गये 'संगम' नामक पत्र ने आधुनिक साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में एक नये आदर्श की प्रतिष्ठा की। लगभग एक वर्ष के लिए वे बम्बई भी गये-'धर्मयुग' से संबद्ध होकर। लेकिन उनका मन वहाँ नहीं लगा। लौटकर इलाहाबाद के 'साहित्यकार संसद' के मुखपत्र 'साहित्यकार' का संपादन करने लगे। आगे चलकर जब उन्हें आल इंडिया रेडियो में काम करने का निमंत्रण मिला तो इंदौर, दिल्ली, लखनऊ-कई केंद्रों पर काम करने के बाद इलाहाबाद केंद्र से भी कुछ अरसे तक वे जुड़े रहे। लेकिन अन्ततः उन्हें स्वतन्त्र लेखन के ही सहारे रहना ज़्यादा उचित मालूम पड़ा और वे अपना पूरा समय रचनात्मक और विवेचनात्मक लेखन को ही देने लगे। समय-समय पर दूसरी भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों का अनुवाद भी वे करते रहे। देशी-विदेशी साहित्य का जो गहन अध्ययन उन्होंने किया, उसका लाभ उनके द्वारा किये गये अनुवाद-कार्य के ज़रिये हिंदी पाठकों को मिला।

कवि के रूप में जोशी जी को अपने ज्ञान और अपने अनुभव का रचनात्मक रसायन दे पाने में विशेष सफलता नहीं मिल पाई। भले ही जोशी जी अपनी कविताओं का 'जलवत तरल' और 'आलोक-रश्मिवत् सरल' मालूम पड़ना एक विशेषता मानते हों (द्र. 'विजनवती' की भूमिका, पृ. - १७ - १८) लेकिन जीवन का जो असली रूप उन्हें देखने को मिल रहा था, वह न तो वैसा 'तरल' था, न 'सरल'। वहाँ तो ठोस समस्याएँ थीं और जटिल यथार्थ था ! इसीलिए जोशी जी को अपने रचनात्मक लेखन के लिए सही और उपयुक्त विधा का चुनाव करते समय बाद में काव्य-रचना का मोह त्याग देना पड़ा।

उपन्यासकार के रूप में इलाचंद्र जोशी से हिंदी जगत का परिचय सन् १९२९ में हुआ, जब उनका पहला उपन्यास 'घृणामयी' प्रकाश में आया। यह उपन्यास उन्होंने पूरा १९२७ में ही कर लिया था। इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व का तथ्य यह है कि हिंदी में मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास के क्षेत्र में पहली जमीन इसी उपन्यास ने तोड़ी थी। इलाचंद्र जी के भतीजे श्री भुवनचंद्र जोशी की सूचना के अनुसार 'घृणामयी' से भी पहले उनका एक उपन्यास 'परदेसी' धारावाहिक रूप से 'माधुरी' नामक हिंदी-पत्रिका में छप चुका था, जिसे भुवनचंद्र जी ने कटिंग के रूप

में उन दिनों देखा था जब वे चाचा इलाचंद्र जोशी के साथ ही रहते थे। श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल के एक लेख ('एक अनूठा साहित्यिक व्यक्तित्व': नवनीत, मार्च १९८८) से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। 'घृणामयी' की ओर हिंदी के व्यापक पाठक-वर्ग का ध्यान आकृष्ट नहीं हो सका। कारण शायद यह था कि जिस वर्ष यह उपन्यास छपा, उसी के आस-पास हिंदी के कई अन्य उपन्यास भी लगभग एक साथ सामने आये थे। इनमें प्रसाद का 'कंकाल', जैनेंद्र का 'परख', वृंदावनलाल वर्मा का 'गढ़कुंडार' आदि शिल्प और संवेदना, दोनों की दृष्टि से अधिक मुकम्मल थे। जोशी जी का उपन्यास 'घृणामयी' इन उपन्यासों के बीच कहीं दब-सा गया। क्योंकि औपन्यासिक संवेदना की एक नई दिशा का संकेतक होने के बावजूद शिल्प की दृष्टि से अभी उसमें बहुत कसर बाकी थी।

जोशी जी ने कथा-रचना के क्षेत्र में जो नई दिशा खोजी थी, उस पर आगे बढ़ने का उनका उत्साह अपनी उपेक्षा के बावजूद डिगा नहीं। लेकिन उन्होंने यह ज़रूर जान लिया कि उन्हें अपनी तैयारी अभी बहुत मेहनत से करनी है। लगभग एक दशक तक उनका कोई नया उपन्यास सामने नहीं आया। 'घृणामयी' दोबारा भी छपा, पर इस बार उसका नाम था 'लज्जा'। नाम-परिवर्तन के पीछे उपन्यास में यत्र-तत्र अल्प संशोधन की चेष्टा तो थी ही, साथ ही कड़की के उन दिनों में किंचित् अर्थ-लाभ कर लेने का प्रलोभन भी था। जब उन्हें यह अहसास हुआ कि दूसरे प्रकाशक से उन्हें कुछ अर्थ-लाभ भी हो सकता है तो उन्होंने अपने पहले उपन्यास को नये नाम से दोबारा छपने के लिए सहर्ष दे दिया।

सन् १९४० में जोशी जी का नया उपन्यास आया – 'संन्यासी'। मानवीय अनुभव का यह एक ऐसा समय था जिसकी संकटग्रस्तता का कुछ अनुमान हमें कवींद्र रवींद्र के इस कथन से सहज ही लग सकता है : 'जब मैं अपने चारों ओर देखता हूँ, मुझे एक गर्वीली सभ्यता इस तरह खंडहर होती दीखती है, मानो राशि-राशि व्यर्थता के ढेर में तब्दील होने को उतावली हो !' ('रवींद्रनाथ टैगोर : ए बायोग्राफ़ी' : कृष्णा कृपलानी, पृ. - ३९४)। इलाचंद्र जोशी अपने समय के इस यथार्थ से न केवल उपन्यासकार के रूप में बल्कि व्यक्ति के रूप में भी टकरा रहे थे। एक तरह का जिद्दीपन जो उनके स्वभाव में बचपन से ही था, अब जाने-अनजाने एक ऐसी भावना में रूपांतरित होने की चेष्टा कर रहा था, जो हर दुर्दमनीय गर्व को चूर-चूर कर सके। 'संन्यासी' के कथानायक नंदकिशोर में भी हम इसी मनः स्थिति

से गुज़रते जोशी का आत्म-प्रक्षेप देख सकते हैं। नंदकिशोर जयंती से विवाह की इच्छा का मूल कारण बताते हुए कहता है–'मुझे उस तेजस्विनी नारी के स्वभाव में एक शांत और संयत तथापि दुर्दमनीय गर्व का जो भाव दिखाई दिया था, उसे अकारण ही चूर-चूर करने की एक प्रतिहिंसापूर्ण भावना मेरे मन में समा गई थी।' ("संन्यासी', पृ. - ३५२)।

'संन्यासी' का हिंदी जगत् में अच्छा स्वागत हुआ। यह उपन्यास जोशी जी की ख्याति का पहला पुष्ट आधार बना। फिर तो उनके लेखन में ऐसी त्वरा आई कि प्राय: हर दो वर्ष बाद उनका कोई न कोई नया उपन्यास छपता चला गया। उपन्यास-रचना की इस संख्यात्मक गति में जोशी जी अपने समवर्ती उपन्यासकारों में सबको पछाड़ते चले गये—चाहे वे जैनेंद्र हों, भगवती चरण वर्मा हों या यशपाल। 'संन्यासी' के बाद 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी', 'जहाज का पंछी', 'ऋतुचक्र', 'भूत का भविष्य' और 'कवि की प्रेयसी' तक जोशीजी की उपन्यास-रचना का एक लंबा क्रम है।

कुछ ऐसा ही अनवरत सिलसिला कहानी-लेखन का भी चलता रहा। 'धूपरेखा' उनका पहला कहानी संग्रह था, जो १९३८ में छपा था। फिर 'दीवाली और होली', 'रोमांटिक छाया', 'आहुति', 'खंडहर की आत्माएँ', 'डायरी के नीरस पृष्ठ', 'कँटीले फूल लजीले काँटे' आदि अनेक कहानी-संग्रह छपे।

आलोचना के क्षेत्र में भी जोशी जी की सक्रियता देखते ही बनती है। साहित्य-सिद्धान्तों से अपने गहरे परिचय का प्रमाण देने का उनमें अद्‌भुत उत्साह था। 'साहित्य कला और विरह' तथा 'कला और नीति जैसे निबंध इसी उत्साह के प्रतिफल थे। 'साहित्य-कला और विरह' शीर्षक निबंध ने तो एक समय ऐसी हलचल मचाई थी कि उससे संबंधित चर्चा में शामिल होने के लिए निराला जी को भी बाक़ायदा ताल ठोककर अपने बंधुवर जोशी जी के सामने आना पड़ा था। निराला जी का निबंध 'कला के विरह में जोशी-बंधु' (जो 'प्रबंध-प्रतिमा' में संकलित है) इस तथ्य का साक्षी है। देशी-विदेशी लेखकों पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करते रहना भी जोशी जी की रचनात्मक प्रवृत्ति में बराबर शामिल रहा। इसी प्रक्रिया में उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण लेख लिखे, जैसे 'शरत्चंद्र की प्रतिभा', 'कामायनी', 'मानवधर्मी कवि चंडीदास' और 'शेक्सपियर का हैमलेट' आदि ! उनके समालोचनात्मक लेख तथा निबंध 'साहित्य-सर्जना', 'विवेचना', 'विश्लेषण', 'साहित्य-चिंतन', 'शरत-व्यक्ति और

कलाकार', 'रवींद्रनाथ' तथा 'देखा-परखा' आदि पुस्तकों में समय-समय पर संकलित होते रहे।

जोशी जी यदा-कदा अंग्रेजी में भी लेख एवं कहानियाँ लिखते रहते थे। यह तथ्य बहुत कम लोगों को विदित है। अपने कलकत्ता-प्रवास के दौरान, जोशी जी ने रामानंद चटर्जी के 'माडर्न-रिव्यू' नामक प्रसिद्ध पत्र में सन् १९२८ में एक लेख लिखा था, जो प्रबुद्धवर्ग को बहुत पसंद आया था। इस लेख में उन्होंने हिंदी साहित्य की तत्कालीन रूढ़िवादी तथा प्रगति-विरोधी प्रवृत्तियों की भर्त्सना की थी। अंग्रेजी में लिखी उनकी एक कहानी दिल्ली से प्रकाशित 'यूनाइटेड एशिया' नामक पत्रिका में छपी थी। इलाहाबाद से प्रकाशित अंग्रेजी अखबार 'लीडर' के रविवारीय परिशिष्टों में तो उनकी कहानियाँ अक्सर ही छपती रहती थीं।

भाषा और साहित्य के प्रति अनुराग को जोशी जी, जैसे भी संभव हुआ, जीवन-रस की तरह आजीवन सहेजे रहे। उनके रचनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण और विकास में जितना उनकी प्रतिभा का हाथ था, उससे कहीं ज्यादा हाथ उनकी परिश्रमशीलता का था। जोशी जी को जो सम्मान हिंदी साहित्य के क्षेत्र में मिला, वह कोरी प्रतिभा का नहीं, वरन् प्रतिभा और परिश्रम के सम्यक् योग का सम्मान है। जीवन के अंतिम वर्षों में जब जोशी जी पर पक्षाघात का असर हुआ तो उनको सबसे ज्यादा दुख इसी बात का था कि पक्षाघात ने उनसे परिश्रम के सामर्थ्य को छीनकर उनकी प्रतिभा को परिश्रम से वियुक्त कर दिया था।

अस्सी वर्ष की आयु पूरी करके जोशी जी ने तेरह दिसम्बर' ८२ को अपने जन्म-दिन पर अपने इष्टमित्रों की बधाइयाँ लीं। अंतिम बार। और दूसरे ही दिन, चौदह दिसम्बर, १९८२ को इस संसार से विदा हो गये।

अध्ययन और आत्म-विस्तार

'जीवन को एक खुली किताब की तरह रखना'—यह एक ऐसा कथन है, जिसे सलाह के तौर पर किसी को भी दे देने में कोई आदर्शवादी कभी कंजूसी नहीं बरतता। मगर आधुनिक ज़िंदगी की निरंतर जटिल होती जा रही प्रकृति के चलते अब तो यह मात्र एक मुहावरा है। इलाचंद्र जोशी के व्यक्तित्व और उनके रचना-संसार के संदर्भ में इस मुहावरे की याद अनायास ही बार-बार आ जाती है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि उनकी रचनाओं के अधिकांश पात्र बुनियादी तौर पर इस मुहावरे की अर्थहीनता ही उजागर करते नज़र आते हैं। उनके व्यवहारों में जो कुछ भी घटित होता दीखता है, उसके सूत्र बाह्यतः पकड़ में नहीं आते, बल्कि मन की भीतरी पर्तों पर कहीं किसी रहस्यमय सत्य से ग्रंथिबद्ध रहते हैं। दूसरी बात यह कि जिस स्वाध्याय ने शुरू से ही जोशी जी के व्यक्तित्व को एक ख़ास संस्कार देने में योग दिया, उसमें हम उपर्युक्त मुहावरे को उपमा के एक व्यतिरेकी क्रम में घटित होते देखते हैं। पहली बात की विस्तृत चर्चा अगले प्रकरणों में होगी। यहाँ जोशी जी की स्वाध्यायी प्रवृत्ति के संदर्भ में दूसरी बात का मर्म समझ लेना पहले अपेक्षित है।

जो भी महत्त्वपूर्ण किताब जोशी जी के हाथ जहाँ भी लगी, उसे उन्होंने सिर्फ़ किताब की तरह नहीं, बल्कि जीवन की तरह खोलने का उत्साह अपने में बराबर बनाये रखा। जोशी जी की परिपक्व औपन्यासिक कृति 'जहाज़ का पंछी' का नायक कलकत्ता की सड़कों पर अपने 'फ्रीवर्ल्ड' की सैर करने के उत्साह में जब भटक रहा होता है तो किताब की एक दूकान पर उसे यह अनुभव होता है: 'सहसा मेरे मन में यह धुन सवार हो गई कि किताब वाले के आगे हर हालत में यह बात प्रमाणित हो जानी चाहिए कि मैं पुस्तकों का प्रेमी हूँ।' दरअसल यह जोशी जी का आत्मानुभव भी है। यह ज़रूर है कि जिस धुन का ज़िक्र जोशी जी के कथानायक ने किया है, वह उन पर उस तरह 'सहसा' नहीं, बल्कि लगातार सवार रही और सर्वत्र।

बचपन में अल्मोड़ा के स्कूली जीवन से ही पाठ्यक्रम के बाहर ताक-झाँक करने का गहरा चस्का उन्हें लग चुका था। बाल-मन यों भी जिज्ञासु और ज़िद्दी होता है। तिस पर अल्मोड़ा का यह बालक—जिसमें एक रचनाकार की प्रतिभा छिपी थी—स्वभावतः कुछ ज़्यादा ही संवेदनशील रहा होगा और कुछ ज़्यादा उन्मुक्तता-कामी भी। अतिरिक्त

संवेदनशीलता और उन्मुक्तता-कामना उसकी जिज्ञासाओं और ज़िदों को उभार भी दे रही थी और उनका नियमन भी कर रही थी—रचनात्मक सांस्कारिकता की दिशा में। जोशी जी का रचनाकार मन आधुनिक ज़िंदगी के यथार्थ को अधिक से अधिक कोणों से देखने के लिए बेचैन हो रहा था। अल्मोड़ा की ज़िंदगी में प्राकृतिक रमणीयता के तत्त्व जितने विपुल थे, आधुनिक यथार्थ की जटिलताओं का अनेकमक्षीय साक्षात्कार कराने वाले अनुभव उतने ही विरल। अल्मोड़ा में मनुष्य की ज़िंदगी का जो परिदृश्य जोशी जी देख रहे थे, उसमें एक स्थिरता थी। सीमित ज़रूरतों, निश्छल अनुभूतियों और सादी अभिव्यक्तियों से संयमित। ऐसी स्थिर ज़िंदगी व्यापक यथार्थ के गतिशील स्वरूप से जोशी जी को परिचित कराने में असमर्थ थी। जोशी जी इस असमर्थता को समझ रहे थे।

स्वाध्याय का जो स्वाद उन्हें मिल चुका था, उससे उन्हें यह सुखद अनुभूति होने लगी कि आधुनिक जीवन के गतिशील यथार्थ से उनका परिचय अल्मोड़ा की ज़िंदगी के प्रत्यक्ष अनुभव भले ही न करा पायें लेकिन फ़िलहाल, जीवन के अनजाने स्पंदनों को पहचानने में वे नई-नई पुस्तकों का सहारा ले सकते हैं। बस फ़िर क्या था, वे पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की टोह में रहने लगे। इस टोह में उनके प्रारंभिक उपजीव्य बने बड़े भाई हेमचंद्र जोशी तथा कुछ अन्य अध्ययन-व्यसनी रिश्तेदार। इस प्रसंग में एक बड़ी ही रोचक और महत्त्वपूर्ण जानकारी ओंकार शरद से हमें मिलती है: 'बालक इलाचंद्र सातवें दर्जे के विद्यार्थी। बड़े भाई हेमचंद्र जोशी मैट्रिक पास करके प्रयाग आ गये थे, युनिवर्सिटी की पढ़ाई के लिए। पहली बार घर आते ही उन्होंने पाया कि उनकी सारी लाइब्रेरी उनका छोटा भाई चाट गया है। – बड़े भाई साहब खोज-खोज कर किताबें लाते और छोटे भाई साहब उनसे पहले ही उन्हें चाट जाते। दो साल के भीतर ही जोशी ने अंग्रेजी और बंगला साहित्य का इतना अध्ययन कर लिया जो शायद कोई और बीस साल में पूरा कर पाता।' ('अभिनंदन,' परिमल, प्रयाग, पृ० १०)

अपने समय की पत्रिकाओं के प्रति जोशी जी के चाव का क्या आलम था, यह स्वयं जोशी जी से ही सुनिये: 'जिस छोटे-से पहाड़ी शहर में रहता था, वहाँ तब मुश्किल से दो या तीन व्यक्तियों के पास 'सरस्वती' आती थी। उनमें से एक प्रति मेरे चाचा जी प्रत्येक महीने के पहले सप्ताह में ही कहीं से ले आते थे। जब चाचा जी शाम को टहलने चले जाते थे, तब मैं सुरक्षित स्थान से उसे चुराकर स्कूली किताबों को अलग फेंककर एकाग्रचित्त से उसे पढ़ने में मग्न होता। इस प्रकार मुझे नियमित रूप से 'सरस्वती' के अध्ययन का अपूर्व सुयोग प्राप्त हो जाता था।' ('साहित्य-चिंतन;' 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : एक संस्मरण,' पृ० ११८)।

इस तरह स्वाध्याय उनका स्वभाव बनने लगा। स्वाध्याय के ज़रिये स्कूली जीवन में ही उन्होंने इतनी ऊर्जा प्राप्त कर ली थी कि औपचारिक शिक्षा में उस ऊर्जा का अट पाना मुश्किल हो रहा था। शिक्षा के औपचारिक क्रम से शीघ्र ही उन्हें ऊब होने लगी। मैट्रिक पास करते ही उस क्रम को उन्होंने हमेशा के लिए नमस्कार कर लिया। औपचारिक शिक्षा के मामले में जोशी जी अपनी पीढ़ी के अन्य प्रतिनिधि उपन्यास-लेखकों (जैनेंद्र और भगवती चरण वर्मा आदि) में सबसे पीछे रहे लेकिन स्वाध्याय के मामले में सबसे आगे।

स्वतन्त्र अध्ययन बालक जोशी के लिए केवल ज्ञान के क्षितिज का विस्तार करने मात्र का माध्यम नहीं था, बल्कि अपनी अभिव्यक्ति को भाषा का रचनात्मक संस्कार देने का भी माध्यम था। उनकी मातृभाषा कुमाऊँनी थी। रचनाकार होना चाहते थे वे हिंदी का! हिंदी बोलने का अभ्यास करते तो भी न केवल लहजा़ कुमाऊँनी हो जाता था, बल्कि कुमाऊँनी भाषा के शब्द स्वतः मुख से निकल पड़ते थे। लेकिन यहाँ उनके स्वभाव का ज़िद्दीपन बहुत काम आया। उन्होंने ठान लिया कि वे हिंदी में ही लिखेंगे और इसके लिए अभ्यास जारी रखेंगे। प्रेमचंद के कहानी-संग्रह 'नवनिधि' और 'सप्त सरोज' वे पढ़ चुके थे और उनकी भाषा की उर्दू-हिंदी मिश्रित शैली व मुहावरेदारी से बहुत प्रभावित थे। जोशी जी को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए भाषा के जिस आदर्श रूप की तलाश थी, वह उन दिनों पढ़ी गई प्रेमचंद की कहानियों के इर्द-गिर्द ही कहीं झलक मार रहा था। जोशी जी उसी को पकड़ पाने की तैयारी में फ़िलहाल जुट गये।

कुछ ही दिनों में अपनी तैयारी के प्रति उनमें इतना आत्म-विश्वास आ गया कि उन्होंने एक लेख हिंदी में लिख डाला और अपने बड़े भाई श्री हेमचंद्र जोशी को वह लेख दिखाने की हिम्मत भी जुटा ली। बड़े भाई से शाबासी मिली। साथ ही यह सलाह भी कि हिंदी का अच्छा लेखक बनने के लिए उर्दू में रवाँ होना ज्यादा हितकर होगा। इसी सिलसिले में इलाचंद्र जोशी को उर्दू साहित्य की प्रसिद्ध पुस्तक 'बाग़ो-बहार' से मुख़ातिब होना का मौक़ा मिला। 'बाग़ो-बहार' एक तो कहानी की पुस्तक थी, दूसरे मुहावरेदार भाषा की जादूगरी के एक-से-एक नमूनों का भंडार। इलाचंद्र उस पर ऐसे लट्टू थे कि उसके कई-कई वाक्य मुहावरा-दर-मुहावरा बाक़ायदा अपनी नोट-बुक पर उतारते चले जाते थे।

बंगला के कथाकारों में उनके किशोर मन को शरत् ने बहुत संवेदित किया था। शरत् का जो उपन्यास उनके हाथ लगा था, वह था 'पल्लि समाज'। फिर 'चरित्रहीन' तो उनके मन पर छा-सा गया। 'चरित्रहीन' उन्होंने अल्मोड़ा से अपनी शिमला-यात्रा के दौरान रेल के डिब्बे में पढ़ा—देर रात तक अपनी नींद को अंगूठा दिखाते हुए। उस रात डिब्बे की बत्तियाँ बीच-बीच में टिमटिमाते हुए जब एकाएक बुझ जाती थीं, तो

'चरित्रहीन' के पन्नों पर रम गये जोशी के हृदय की धड़कन और रक्त-प्रवाह ही मानों कुछ देर के लिए रुक जाया करता था।

विदेशी लेखकों की कृतियों तक भी जोशी जी की पहुँच किशोरावस्था से ही होने लगी थी। इन कृतियों के साथ भी उनके भावुक मन का सलूक वही था—हर किताब को ज़िंदगी की ही तरह खुलते महसूस करने का। कई बार उनका यह सलूक कृति की कथागत संवेदना के साथ उनके निजी अहसासों को इस क़दर एकलय कर देता था कि वे उसी में डूबने-इतराने लगते थे। ऐसी ही एकलयता की स्थिति को याद करते हुए जोशी जी स्वयं एक जगह लिखते हैं: 'जब पहले पहल 'वेर्टेर' पढ़ा, तब मैं किशोरावस्था पार करके नवयौवन के प्रांगण में पाँव रख ही रहा था। एक विश्वविख्यात दार्शनिक का कहना है कि निराशा जवानी का रोग होता है—जीवन के संबंध में काव्यात्मक निराशा के दौरे उन दिनों मुझे आया करते थे—अपनी उस मानसिक अवस्था में मेरे हाथ कहीं से गेटे का 'वेर्टेर' लग गया।—बार-बार पढ़ता रहा। पढ़ते-पढ़ते एक अजीब-सा नशा मेरे दिमाग़ में छा गया और मैंने निश्चय कर लिया कि आत्महत्या के अतिरिक्त बौद्धिक निराशा से मुक्ति का कोई उपाय मेरे लिए नहीं है। मैं अत्यन्त प्रसन्न होकर मृत्यु का पर्दा चीरकर उसके पार महाजीवन की झाँकी पाने के लिए विकल हो उठा।' ('साहित्यचिंतन,' पृ० १७१) संभवतः ऐसी ही किसी विकलता में उस द्वंद्व का बीज भी निहित रहा होगा जो आगे चलकर जोशी जी की एक कविता 'विजनवती' में इस तरह व्यक्त हुआ—

> कभी महाजीवन का मन में
> उमगा पड़ता था वेदन
> कभी स्नेह की अति प्रशांत छवि
> हाय ! जगाती थी चेतन।
>
> ('विजनवती', पृ.० ७)

अल्मोड़ा से भागकर कलकत्ता पहुँचने पर अध्ययन का दायरा और बढ़ा। कलकत्ता का समृद्ध पुस्तकालय उनके लिए किसी ख़ज़ाने से कम न था। आकस्मिक नहीं है कि जोशी जी अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'जहाज़ का पंछी' के नायक के बहाने कलकत्ता के पुस्तकालय का स्मरण करना नहीं भूलते। पत्रकारिता के क्षेत्र से संबद्ध होना भी उनके लिए बहुत अनुकूल साबित हुआ। पत्रकारिता उनके लिए मात्र अर्थोपार्जन का माध्यम नहीं थी, बल्कि अध्ययन का माध्यम भी थी। इससे न केवल अनुभव और ज्ञान बढ़ रहा था, बल्कि भाषिक अभिव्यक्ति के निखार के लिए आवश्यक व्यवहारमूलक अभ्यास के मौके भी मिल रहे थे।

यहीं एक बात और गौ़र करने की है। युवा जोशी, जो अब तक अपने अध्ययन में रचनाकारों और विद्वानों से प्रायः अभिभूत ही होते आये थे, अब असंतुष्ट होना भी सीख रहे थे। यही असन्तुष्टता आगे चलकर उन तमाम शिकायतों में पल्लवित होने वाली थी, जो दुनिया भर के बड़े से बड़े लेखकों और चिंतकों के बारे में 'विवेचना' और 'साहित्य-चिंतन' आदि पुस्तकों के अंतर्गत संकलित जोशी जी के लेखों में यत्र-तत्र विद्यमान मिलती हैं। 'अभिभूत होते जोशी' से 'असंतुष्ट होते जोशी' की तरफ़ बढ़ने के क्रम में ही वे अपने व्यक्तित्व का वह ठिठका हुआ-सा रूप पाते हैं जिसे हम उनका 'आलोचक व्यक्तित्त्व' कह सकते हैं। स्वाध्याय के क्रम में जोशी जी जिन रचनाकारों में कई-कई गुण रेखांकित कर चुके होते हैं, ठिठककर मानो फिर उन्हीं की त्रुटियाँ भी रेखांकित कर देना उन्हें ज़रूरी मालूम होने लगता है। बल्कि कभी-कभी, त्रुटियाँ वे कुछ ज़्यादा ही गाढ़ी स्याही से रेखांकित कर देते हैं। फ्रांसीसी भाषा के यथार्थवादी-प्रकृतवादी लेखक (विक्टर ह्यूगो, स्तांदाल, बाल्ज़ाक, फ्लाबेयर और ज़ोला आदि) तथा रूसी भाषा के टॉल्स्टाय, तुर्गनेव, दोस्तोव्स्की, चेख़व और गोर्की आदि जो उनके बहुत प्रिय रचनाकारों में हैं, उनके साथ भी प्रायः वे यही करते हैं।

मिसाल के तौर पर रूसी उपन्यासकारों के योगदान की बाबत जोशी जी के मन में जब सराहना का ज्वार आता है तो वे कहते हैं: 'टाल्स्टाय, तुर्गनेव, दोस्तोव्स्की, चेख़व, गोर्की आदि लेखकों की रचनाओं में वास्तविकता के वैचित्र्य का अभिनव खेल देखने में आता है—बीसवीं सदी का समस्त यूरोपीय साहित्य इन्हीं विश्वविख्यात लेखकों की मर्म-वाणी और प्राणस्पर्शी शैली से प्रभावित है।' ('विवेचना' : पृ० ७३)। लेकिन थोड़े ही समय बाद यह ज्वार उतरता है और जोशी जी ठिठक जाते हैं। टॉल्स्टाय के बारे में कहते हैं, 'सुधारवादी कलाकार लियो टॉल्स्टाय ने अपने सर्वोत्कृष्ट उपन्यास 'अन्ना कैरेनिना' में नायक को अन्य पात्रों की तुलना में आदर्श रूप में चित्रित करना चाहा है, पर साधारण से यथार्थवादी विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस सुधारवादी नायक के व्यक्तित्व के विकास की चरम परिणति एक अहमवादी, रूप में होती है।' ('विवेचना,' पृ० १३६)। तुर्गनेव के बारे में जोशी जी यह शिकायत व्यक्त करते हैं कि उसकी 'किसी भी रचना में कहीं भी हम ऐसा दृष्टिकोण नहीं पाते जिसमें घोर बुर्जुवा आदर्श की परंपरा में कहीं भी कोई व्यतिरेक हुआ हो !' ('विवेचना : पृ० १३८)। दोस्तोव्स्की के उपन्यास 'क्राइम एंड पनिशमेंट' में अस्वस्थ मानसिकता वाले हत्याकारी नायक के प्रति सहानुभूति जगाने के प्रयत्न की सफलता वे स्वीकार करते हैं, परन्तु उसके प्रभाव की नकारात्मकता के इस उल्लेख के साथ कि 'यही सफलता सामूहिक साहित्य के अंतरीण स्वास्थ्य के लिए

घातक सिद्ध हुई।' ('विवेचना,' पृ० १२८)।

इस तरह की तमाम शिकायतों में जिस असंतोष की अभिव्यक्ति होती है, वह चाहे कितना भी तीव्र रहा हो, पर खुशी की बात यह है कि उस असंतोष ने जोशी जी को अध्ययन-विमुख कभी नहीं किया। बल्कि तथ्य तो यह है कि विश्व के जिन प्रसिद्ध रचनाकारों के बारे में वे जितनी ही गंभीर शिकायत का भाव प्रदर्शित कर रहे होते हैं, उनके मन में उनका प्रभाव उतना ही गहरा पैठ गया होता है। अंग्रेजी, फ्रांसीसी और रूसी उपन्यासकारों की कृतियों में से कई को उन्होंने अपनी कच्ची उम्र में ही पढ़ डाला था। इनमें से फ्रांसीसी और उससे भी अधिक रूसी कथाकारों की झंकृति उनकी चेतना में बराबर व्यापी रहती है।

जोशी जी अपने 'साहित्य-चिंतन' में जब 'विश्व उपन्यास-साहित्य' की चर्चा करते हैं तो इस तरह के वाक्य उनके यहाँ बार-बार आते रहते हैं–'तुर्गनेव, टाल्स्टाय और दोस्तोवस्की ने औपन्यासिक कला के ऐसे-ऐसे आश्चर्यजनक और एक-से-एक बढ़कर सुंदर नमूने पेश किये कि अनुवादों को पढ़कर उनके फ्रांसीसी गुरुओं के छक्के छूट गये।' ('साहित्य-चिंतन,' पृ० २६)। अथवा 'रूसी उपन्यासकारों ने जीवन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप से लेकर विराट्-से-विराट् रूप तक की छानबीन और परख करने, उसे समझने और समझाने में कोई प्रयत्न उठा न रखा–विशेषकर टॉल्स्टाय और दोस्तोएव्सकी ने। इन दो उपन्यासकारों ने अपनी किसी भी रचना में जीवन के चाहे किसी भी पहलू को लिया हो, अपने युग के वैयक्तिक, पारिवारिक अथवा सामाजिक जीवन के किसी भी रूप को अपनाया हो, उसे उन्होंने युग-युग के सामूहिक मानव-जीवन की विराट् पृष्ठभूमि पर उतारकर रखा !' ('साहित्य-चिंतन,' पृ० २७)। इन वाक्यों में वह झंकृति अनेकशः सुनी जा सकती है जो रूसी उपन्यासकारों के यहाँ चित्रित जीवन का साक्षात्कार करते समय जोशी जी ने अपनी चेतना के तारों में महसूस की थी।

जोशी जी की चेतना के तारों में पैदा हुई यह झंकृति क्या उनकी औपन्यासिक संवेदना की लय के साथ भी कहीं कोई रिश्ता बना सकी ?–प्रश्न अपनी जगह संगत है। पर पहले यहाँ इस बात पर भी ध्यान दे लेना चाहिए कि जोशी जी की औपन्यासिक संवेदना में अपनी जगह बनाने वाले तत्त्व केवल उनके विश्व-उपन्यास-साहित्य संबंधी अध्ययन से ही नहीं जुड़े हैं। उनके अध्ययन-वृत्त में बहुत कुछ और भी है जो उनकी औपन्यासिक संवेदना से किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रेरणा के रिश्ते को बनाने-बिगाड़ने और परिचालित करने में प्रमुख सूत्रधार का काम कर रहा है। थोड़ा रुककर यहाँ उस 'बहुत कुछ और' को भी देखते चलना आवश्यक है।

अपने समकालीन जगत् की चिंतनात्मक प्रज्ञा के अद्यतन पहलुओं से अवगत होने के लिए जोशी जी ने ज्ञान-विज्ञान का आधुनिक शास्त्र भी मथा और नये-नये वैचारिक आंदोलनों को देखने-परखने में भी रुचि ली। इस सिलसिले में मनोविश्लेषणवाद, यथार्थवाद, प्रकृतवाद से लेकर प्रगतिवाद तक, सब उनके अध्ययन के विषय बने।

मनोविश्लेषणवादी आचार्यों में उन्होंने फ्रायड, एडलर, युंग और विलियम जेम्स आदि का विशेष अध्ययन किया। इन सबसे उन्होंने मानव-मन के एक-से-एक अनबूझ रहस्यों को जानने के वैज्ञानिक करतब सीखे। लेकिन इनमें से किसी के भी प्रति अपनी कृतज्ञता के इज़हार में अपने आलोचनात्मक विवेक को ताक पर रख आना उन्होंने कभी गवारा नहीं किया। तभी तो मनोविश्लेषण के क्षेत्र में फ्रायड की युग-प्रवर्तक भूमिका का महत्त्व स्वीकारने के बाद भी उन्हें यह लिखने में कतई संकोच नहीं होता कि 'युंग का मनोविज्ञान फ्रायड और एडलर, दोनों से भिन्न है और दोनों से बहुत आगे बढ़ा हुआ, अधिक व्यापक और अधिक गहरा है।' ('देखा-परखा' पृ० ४२) फिर युंग के बारे में भी एक स्थान पर लिखते हैं–' युंग फ्रायड से एक कदम आगे अवश्य बढ़ा है, किंतु मानवीय अंतःप्रकृति की स्वतंत्र सत्ता उसने भी स्वीकृत नहीं की है।' ('साहित्य-चिंतन,' पृ० ९)। जोशी जी अपने अध्ययन के साथ तुलनात्मक विवेचन का सन्निवेश करके अक्सर ऐसे निष्कर्ष निकालते हुए देखे जाते हैं। इससे पता चलता है कि बड़े से बड़े सिद्धान्तकार की शक्ति को ही नहीं, सीमाओं को भी वे भलीभांति समझ लेना चाहते थे।

सिद्धांतों की शास्त्रीय जानकारी के समानांतर ही उनकी रचनात्मक अवस्थितियाँ भी डी०एच० लारेंस और जेम्स ज्वॉयस आदि के उपन्यासों में वे देख चुके थे। आगे चलकर जोशी जी ने अपनी तर्क-योजना में मनोविज्ञान के आचार्यों और मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों की सीमाओं का चाहे कैसा भी उल्लेख किया हो, लेकिन इन सिद्धान्तों से उनके परिचय के प्राथमिक दौर में ही लगभग यह तय हो चुका था कि उन्हें अपने खुद के औपन्यासिक व्यक्तित्व को किस विशिष्टता से मंडित होने देना है।

विशिष्टता-निर्धारण का यह सचेष्ट उपक्रम जोशी जी के यहाँ कुछ इस तरह फलीभूत हुआ कि वे हिंदी में अपनी तरह के इकलौते मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। चिंतन में अपेक्षाकृत परिपक्व हो चुके जोशी जी इस बात पर चाहे कितना ही बल देते दिखें कि 'मनुष्य केवल मनोविज्ञान के मापदंड द्वारा नहीं मापा जा सकता' ('साहित्य-चिंतन,' पृ० ७) और 'आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य के व्यक्तित्व को उसकी जड़सत्ता तक ही सीमित कर रखा है' ('साहित्य-चिंतन,' पृ० ९), लेकिन हिंदी के

आलोचना-शास्त्रियों का उनके प्रति सलूक बदस्तूर यही रहा कि जब भी उनकी कोई कृति आई, उसे केवल मनोविज्ञान के मापदंड से नापकर कर्तव्य की इतिश्री मान ली गई। जबकि ग़ौर करने योग्य तथ्य यह है कि 'मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' के रचनाकाल तक आते-आते जोशी अपने मनोविश्लेषणात्मक आग्रहों से किंचित् मुक्त हो चुके होते हैं और उनकी रचना-दृष्टि के दायरे में, साधारण जन केवल मनोविश्लेषण का विषय बनकर नहीं बल्कि सामाजिक स्थितियों के प्रत्यक्ष परिपार्श्व में जीता-जूझता चरित्र बनकर उभरने की राह ढूँढ़ता दिखने लगता है। लेकिन प्रायः आलोचकीय दृष्टि को सुविधा इसी में दिखी कि जोशी जी की कृतियों को महज़ मनोविश्लेषणवादी व्याख्याओं से ही संबद्ध करके देखा जाता रहे। हालांकि इसमें कोई शक नहीं कि आलोचकों के लिए इस सुविधा की गुंजाइश बनाने में जोशी जी के खुद के कथा-शिल्प का बहुत बड़ा हाथ रहा। वह अपने स्थापत्य में, न सिर्फ़ यह कि हिंदी के दूसरे रचनाकारों के यहाँ विकसित नहीं हो सका, बल्कि यह भी कि वह खुद जोशी जी के यहाँ भी रूढ़ होकर ही रह गया।

जोशी जी के लेखकीय व्यक्तित्व को उनके मनोविज्ञान-संबंधी अध्ययन ने जिस चिंतनगत प्रयोगशाला की राह एकबार दिखाई, अपनी हर कृति में जोशी जी किसी न किसी रूप में बारबार उससे होकर गुज़रते मिलते हैं।

एक जगह विश्व-उपन्यास की परम्परा में पश्चिमी यूरोप के मनोविश्लेषणवादी लेखकों की चर्चा करते हुए जोशी जी ने जेम्स ज्वॉयस के सन्दर्भ में लिखाः

'जेम्स ज्वॉयस ने परम्परा से भिन्न बिल्कुल ही एक नई शैली और नये रूप-विधान में कमाल दिखाया, इसमें संदेह नहीं। फ्रायडीय अवचेतना के कई रुद्ध द्वारों में से एक ऐसे द्वार की कुंजी उसके कलाकार को प्राप्त हो गई जहाँ क़ैद की गई यौन चेतना मुक्त होकर असंख्य शाब्दिक अनुभूतियों के रूप में अविराम गति से प्रलय-प्रवाह की तरह बाहर निकल आई। कला की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा चमत्कार था।' ('साहित्य-चिंतन,' पृ० ३१)।

निस्संदेह इस 'चमत्कार' के प्रति जोशी जी के मंतव्य में सराहना का भाव नहीं है। बल्कि वे इसके कुत्सित परिणामों की तरफ़ ही इशारा करने जा रहे हैं। लेकिन यह उद्धरण जिस पुस्तक से हमने दिया उसका प्रथम संस्करण सन् १९५५ में आया। सन् १९२७ में 'घृणामयी' लिखकर अपनी औपन्यासिक यात्रा शुरू करने वाले जोशी जी इस चमत्कार से अभिभूत नहीं रहे होंगे, यह कह पाना मुश्किल है। आख़िर उनकी बद्धमूल धारणा तो बाद में भी यही रही कि 'सबसे अंतिम और सबसे घातक धक्का बूर्ज्वा समाज को दिया फ्रायड ने'। ('साहित्य-चिंतन,' पृ० ३५)। फिर भला 'फ्रायडीय अवचेतना के कई रुद्ध द्वारों

में से एक द्वार की कुंजी' (जिसे जेम्स ज्वॉयस के हाथ में जोशी जी देख रहे हैं) को खुद भी हथियाने का उत्साह जोशी जी के मन में शुरू से ही पैदा हो गया हो तो इसमें आश्चर्यजनक क्या हो सकता है ?

जेम्स ज्वॉयस और डी०एच० लारेंस जैसे मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों की कमज़ोरियों पर जोशी जी द्वारा अँगुली रखा जान इस बात का परिचायक अवश्य है कि वे खुद अपने सर्जक व्यक्तित्व से अपेक्षा यही कर रहे थे कि मनोविश्लेषणवाद उनकी रचनाओं में निरा 'वाद' बनकर नहीं, अपितु 'भाव' बनकर आये—परिशोषी भाव बनकर ! अब यह दीगर बात है कि वह उनके यहाँ 'भाव' से भी अधिक उनका 'स्थायी भाव' बनकर प्रकट हुआ।

जोशी जी को अपने अनवरत अध्ययन के दौरान जिन भिन्न-भिन्न विचारों और प्रवृत्तियों से परिचित होने का मौक़ा मिला, उनके प्रति स्थान-स्थान पर व्यक्त उनकी असहमतियों से यह निष्कर्ष निकालना भूल होगी कि अपने रचनात्मक मनःकल्प में उन विचारों या प्रवृत्तियों के योग को जोशी जी एकदम ही नकार रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त किस्म की उनकी असहमतिपरक टिप्पणियाँ या तो उनके अपने उन्मुक्तता-कामी विवेचनात्मक उत्साह का प्रतिफल हैं या फिर अपनी कृतियों के बारे में उठ सकने वाली (अनेक प्रभावों की) आशंकाओं को एकदम ध्वस्त करने की ज़िद का परिणाम। यदि मनोविज्ञान के पंडितों की मान्यता को सच माना जाये तो यह भी एक तथ्य है कि बाल्यावस्था में मन पर जो प्रभाव पड़ते हैं, वे अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते हैं। चूंकि जोशी अपने बाल्यकाल में ही काफ़ी कुछ पढ़ चुके थे, इसलिए निश्चय ही उस वक़्त के अध्ययन ने उनके अवचेतन में कई गहरे और संभवतः अमिट प्रभाव छोड़े होंगे। मनोविज्ञान के उपर्युक्त तथ्य के प्रति अतिरिक्त सजगता ने ही हो सकता है, जोशी जी को इस दिशा में भी आगाह किया हो कि उनके अवचेतन में रचे-बसे गहरे प्रभाव जाने-अनजाने कहीं उभर कर उनकी रचनात्कता में कोई ऐसा हस्तक्षेप न करने लग जायें, जिससे उनकी अपनी मौलिकता की प्रतीति ख़तरे में पड़ जाये। ऐसी स्थिति में निश्चय ही उन प्रभावों से थोड़ी निस्संगता उन्हें वांछित रही होगी। इसलिए यह भी संभव है कि विश्व भर के लेखकों-विचारकों से जगह-जगह असहमत होते चलना, उनसे निस्संग होने की कोशिश का एक उपक्रम भी हो।

स्वाध्याय ने जोशी जी को व्यापक अवसर दिया था जिससे वे अपने सर्जनात्मक कौशल की विशिष्ट दिशा तलाश सके। लेकिन उनकी विशिष्टता किसी भी रूप में

अनुकरणधर्मी न साबित होने पाये, इसके लिए वे अपनी सर्जनात्मकता के प्रारंभिक चरण से ही बहुत चौंकन्ने रहे। इस चौंकन्नेपन में भी अध्ययन उनके बहुत काम आया। जिस दौर में कवि के रूप में उनकी रचनाशीलता ने आँखें खोली थीं, वह छायावादी कविता का दौर था। न केवल पंत, प्रसाद बल्कि शैली, कीट्स वगैरह को भी वे पढ़ चुके थे। सहजतया छायावादी और रोमानी तत्व ही जोशी जी की कविता में भी उभरने लगे। लेकिन कथा-साहित्य-संबंधी विस्तृत अध्ययन ने जोशी जी में यह प्रेरणा जाग्रत की कि आधुनिक जीवन की ठोस समस्याओं की सीधी और खरी अभिव्यक्ति के लिए कथात्मक विधाएँ ज़्यादा उपयुक्त हो सकती हैं। यहीं से जोशी जी कविता से कथा-विधा की ओर प्रस्थान कर सके।

लिया कहीं से भी कुछ जाये लेकिन रखा जाए उसे अपनी विशिष्ट शैली में—यह गुर उन्हें विश्व के कई महान् लेखकों को पढ़ने से प्राप्त हुआ था। इसीलिए उन्हें जिस किसी भी लेखक की जो भी शैली बहुत अच्छी लगती थी, वे उससे भी प्रायः चौकन्ने हो जाते थे और उससे सायास बचाव करने लगते थे। प्रेमचंद की भाषा और शैली शुरू में उन्हें कितनी अच्छी लगी थी, यह हम देख चुके हैं। लेकिन जिस उर्दू-हिंदी-मिश्रित और मुहावरेदार भाषा के इर्द-गिर्द शुरू में उन्हें अपने लिए आदर्श भाषा की झलक मिली थी, वो उनकी रचनाओं में हमें कहीं-कहीं ही मिलती है। उनके उपन्यासों में प्रेमचंद की-सी वर्णनात्मकता ज़रूर मिलती है पर भाषा-संस्कार में वे खुद को प्रेमचंद से कितना अलग रखते हैं, यह बात सर्वत्र ज़ाहिर है। जो भाषा वे अपने लिए चुनते हैं, उसमें बंगला और संस्कृत की तत्समता ही ज़्यादा कौंधती है। शब्द-प्रयोग के सिलसिले में कुछ अपव्ययी भी वे अक्सर ही हो जाते हैं।

प्रेमचंद का-सा सन्तुलित कथन जोशी जी को रास नहीं आता। समवर्ती जैनेंद्र का-सा मित-कथन भी उनके स्वभाव में नहीं है। शायद इसीलिए वे अपने कथा-शिल्प को अपनी मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के तहत एक व्याख्यात्मक भाषा देना चाहते हैं। बेशक इसके लिए उन्हें अपनी भाषा में व्यंजकता की बलि देनी होती है। लेकिन इससे उन्हें 'घटनाओं के वर्णन' को 'घटनाओं की व्याख्या' में रूपांतरित करने की सहूलियत तो मिल ही जाती है। जो उन्हें अभीष्ट भी है।

संवेदनात्मक संस्कार पाने में जोशी जी जिन लेखकों से सहायता पाते हैं, उनके प्रति भी वे अपनी ग्रहणशीलता को एकदम अनियंत्रित और खुला नहीं छोड़ देते। वे अपनी रचनाओं के लिए जो संवेदनात्मक रसायन तैयार करते हैं, उसमें घुलने को उनके प्रिय

लेखकों के संस्कार जहाँ भी आते हैं, मुक्तभाव से नहीं आते । जोशी जी उन्हें यथावत् आने ही नहीं देते। बल्कि उन्हें उतनी ही अनुमति देते हैं जितनी स्वयं जोशी जी द्वारा तय की गई कलात्मक शर्तों के तहत संभव होती है। मसलन यदि कहीं वे दोस्तोएवस्की से घटनाओं के संकेत लेंगे, तो विक्टर ह्यूगो सरीख लेखकों से अपने कथानकों को घटनात्मक घात-प्रतिघात द्वारा रोचक बनाने की कला। रवींद्रनाथ से वे 'गोरा' की तरह के 'विश्व-मानवत्व के प्रतीक' बनने की क्षमता रखने वाली चरित्रों की संकल्पना लेंगे तो शरत् से 'देवदास' अथवा 'श्रीकांत' की तरह परिवार और समाज के दायर में उभरने वाले 'युग-सत्य' की संघटना। इस तरह जोशी जी अपनी रचनात्मक ग्रहणशीलता में अपना मौलिक उन्मेष अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते हैं।

किसी भी प्रभाव को वे अपनी मौलिकता का आच्छादन नहीं बनने देते। इतना ही नहीं, यह चेतना भी उन्हें शुरू से ही रही कि यदि वैसा कोई आच्छादन कहीं किसी को दिखे तो उसे पूरे आत्म-विश्वास के साथ विदीर्ण किया जा सके। उदाहरण के लिए, जोशी जी के प्रथम उपन्यास 'घृणमयी' में नायिका के चरित्र की विद्रोही मुद्रा पर यदि हम ध्यान दें तो कुछ अजब नहीं कि उस पर हमें आस्कर वाइल्ड के चरित्रों का असर दिखाई दे जाए। अनुमान तो यह भी किया जाता है कि धर्मवीर भारती के उपन्यास 'गुनाहों का देवता' में आस्कर वाइल्ड का जो प्रभाव झलकता है, वह भी भारती में इलाचंद्र जोशी के मार्फ़त ही पहुँचा है। क्योंकि जिन दिनों 'गुनाहों का देवता' लिखा जा रहा था, भारती साप्ताहिक पत्र 'संगम' में जोशी जी के साथ ही कार्य कर रहे थे और विश्व-उपन्यास-साहित्य के बारे में जोशी जी के अध्ययन से वे प्रभावित भी थे। जोशी जी अपने से बाद के युवतर लेखक तक को जब आस्कर वाइल्ड से प्रभावित कर देते हैं तो स्वयं वाइल्ड से प्रभावित न रहे होंगे, यह अविश्वसनीय है। किंतु प्रकाशचंद्र गुप्त ने जोशी जी के प्रारंभिक लेखन पर जब आस्कर वाइल्ड के प्रभाव की चर्चा की ('साहित्य-संदेश,' अगस्त १९४७) तो जोशी जी ने इस पर अपनी स्पष्ट आपत्ति इन शब्दों में व्यक्त की थी—'मुझ पर आस्कर वाइल्ड का कोई प्रभाव पड़ने की बात तो दूर ही रही, मैं उसकी कला तथा उसके नीतिवाद का बराबर निंदक ही रहा हूँ।' ('विवेचना,' पृ० १५२)।

इसी प्रकार जब पं० शांतिप्रिय द्विवेदी ने जोशी जी की कविताओं में भाषा के स्तर पर बंगला शब्द-ग्रहण का उल्लेख किया था , तो उसका भी निराकरण करने के लिए जोशी जी कितनी मुस्तैदी से उद्यत हुए थे, यह निम्नलिखित उद्धरणों में द्रष्टव्य है:

'मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि मैंने बंगला से आधा शब्द भी नहीं लिया है

और न बंगाली कवियों से मुझे भाव या भाषा में कहीं लेशमात्र प्रेरणा ही मिली है। मुझे इन भारतीय कवियों से प्रेरणा प्राप्त हुई है—संस्कृत में मुख्यतः कालिदास, भवभूति, बाण, जयदेव आदि और हिंदी में तुलसीदास से।'(विजनवती,' भूमिका, पृ० २४)

'बहुत संभव है, मेरे अज्ञात में मुझे भाषा के संबंध में कहीं-कहीं एक आध स्थान में रवींद्रनाथ से प्रेरणा मिली हो, तथापि मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि रवींद्रनाथ द्वारा अपनाया गया कोई भी ऐसा संस्कृत शब्द मेरी कविताओं में कहीं नहीं आया जिसे वर्तमान हिंदी कविता के आचार्यों (प्रसाद, पंत, निराला आदि) ने न अपनाया हो।'('विजनवती,' भूमिका, पृ० २४)

'निस्संदेह मैंने बंगला के दो-चार ऐसे शब्दों को ग्रहण किया है जिन्हें बंगाली लेखकों ने हिंदी से अपनाया है। जहाँ-जहाँ मैंने इस प्रकार के शब्दों को अपने भाव और छंद-संगीत के उपयुक्त समझा है, वहाँ-वहाँ मैंने इरादतन उनका उपयोग किया और ऐसा करने का अपने को पूरा अधिकारी समझा है।' ('विजनवती,' भूमिका, पृ २५)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि जोशी जी शुरू से ही अपने रचनात्मक लेखन में, भाषा या भाव किसी भी स्तर पर कहीं भी अपने अध्ययन की परिणति का इस रूप में पहचाना जाना बरदाशत नहीं कर पाते, जिससे उनकी अपनी मौलिकता की दावेदारी पर कोई आँच आती हो।

बहरहाल, इसमें कोई शक नहीं कि जोशी जी के स्वाध्याय ने उनके व्यक्तित्वगत आत्म-विस्तार में बहुत बड़ा योग दिया। उन जैसा अधीत व्यक्तित्व उनकी पीढ़ी के किसी दूसरे लेखक को दुर्लभ है। उनके अधीत व्यक्तित्व की धाक निराला जैसे कवि पर भी जम जाती है। जोशी-बंधुओं की कई मान्यताओं पर तीखा व्यंग्य करते हुए भी निराला अध्ययन द्वारा अर्जित उनकी योग्यता का कायल होना स्वीकार करते हैं— 'पं० इलाचंद्र जोशी मुझसे बहुत विषयों में योग्य हैं। उनका जहाँ सर झुकता दिखे, वहाँ पाठक केवल मेरे विषय पर ही ध्यान रक्खें, यों मैं शुद्ध हृदय से कहता हूँ, उनकी योग्यता और उनके अपने पक्ष-समर्थन में कोई कमज़ोरी नहीं।' ('प्रबंध-प्रतिमा', पृ० २-३)। आधुनिक हिंदी लेखकों में अज्ञेय का अधीत व्यक्तित्व ज़रूर चर्चा का व्यापक विषय बना लेकिन वय में अज्ञेय इलाचंद्र जोशी से छोटे हैं—लगभग नौ वर्ष। और साहित्य में भी उनका प्रवेश जोशी जी के आगमन के कई वर्ष बाद ही हुआ।

अंतर्जगत् की प्रयोगशाला

शास्त्र-ज्ञान सर्जना के उन्मेष को कब कितनी स्फूर्ति देगा और कब कितनी जड़ता–यह तय कर पाना किसी भी लेखक के लिए आसान काम नहीं होता। इलाचंद्र जोशी, जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, स्वाध्याय द्वारा पर्याप्त शास्त्र-ज्ञान अर्जित करके लेखन के क्षेत्र में उतरे थे। रचनाओं में आने वाले पात्रों के जीवन की किसी भी गति-विधि को समझने में कहीं कोई चूक न होने पाये, इसके लिए वे मानवीय व्यवहारों के आंतरिक मूलों को विश्लेषित करने वाले नये से नये सिद्धांत की जानकारी का सायास उपयोग करते थे। किसी सिद्धांत या मतवाद में यदि उन्हें कहीं भी कुछ सारवान् प्रतीत होता था तो वे उसका ऐसे रसायन की तरह उपयोग करने को तत्पर हो उठते थे, जो न केवल उनकी अपनी विशिष्ट रचना-मुद्रा को उभारता चले बल्कि उनके पात्रों के जीवन के भीतरी सूत्रों की खरी जाँच-परख में भी अधिकाधिक योग दे। इसी चेष्टा का परिणाम है कि उनका हर उपन्यास एक ऐसी प्रयोगशाला बन जाता है, जहाँ पात्रों की असामान्यताओं और असहजताओं के निहित मूल तलाशने के लिए उनके अंतर्जगत् का बारीक़ परीक्षण चल रहा होता है। जोशी जी इस परीक्षण में अपने को इतना सिद्धहस्त मानते हैं कि उन्हें लगता है, मानो उनका हर पात्र उनकी प्रयोगशाला में अपने परीक्षणार्थ आने को आतुर है।

कहीं-कहीं तो जोशी जी अपने पात्रों की आत्म-परीक्षण-संबंधी पुकार को दर्ज भी करते चलते हैं। उदाहरणार्थ 'घृणामयी' की नायिका की पुकार सुनिये : 'दयामय, मुझे बता दो कि मैंने किसी पूर्व जन्म में स्वाभाविक नियमों का पालन करके नारी का जीवन पूर्णरूप से बिताया या नहीं ?' ('घृणामयी' पृ. - १८०)। 'संन्यासी' के नायक नंदकिशोर का कथन देखिये। जयन्ती से अपने विवाह की इच्छा के मूल रहस्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए वह कह रहा है : 'मेरे मनोभावों की इस विचित्रता पर गौर कीजिए कि जयन्ती से मैं विवाह इसलिए नहीं करने जा रहा था कि मैं अपने एकांगी जीवन की अपूर्णता को पूर्ण करूँ बल्कि इसलिए कि मुझे इस तेजस्विनी नारी के स्वभाव में एक शांत और संयत तथापि दुर्दमनीय गर्व का जो भाव दिखाई दिया था, उसे अकारण ही चूर-चूर करने की एक प्रतिहिंसापूर्ण भावना मेरे मन में समा गई थी।' ('संन्यासी', पृ. - ३५२)। 'परदे

की रानी' में निरंजना का आत्म-निवेदन सुनिये : '–केवल एक ही नहीं, मेरे भीतर कई विरोधाभास वर्तमान हैं। कभी-कभी मुझे यह अनुभव होने लगता है कि मेरे मन के मूल केंद्र के ऊपर बहुत-से विचित्र-विचित्र संस्कारों के स्तर एक के ऊपर एक इस सिलसिले से जमे हुए हैं और उनमें से प्रत्येक स्तर के तत्व किसी दूसरे स्तर के तत्वों से मेल नहीं खाते।....मैं अपने भीतर तक के विचित्र संस्कारों की क्रिया-प्रतिक्रिया की कठपुतली मात्र हूँ।' ('परदे की रानी', पृ. - ९८)। 'निर्वासित' में नायक महीप को अपने आकस्मिक 'धारावाही भाषण' से चमत्कृत करने वाली शारदा इस अनबूझ पहेली के साथ हाज़िर है : 'मेरे समान तीव्र अनुभूतिशील नारी जीवन के ऐसे मर्मघाती अनुभवों के बाद भी पागल नहीं हुई, यह रहस्य स्वयं मुझे चक्कर में डाले हुए है।' ('निर्वासित', पृ. - १८२)।

जोशी जी अपने उपन्यासों में इन जैसे अनेकानेक पात्रों को समझने में पूरी सहानुभूति दिखाते हैं और अपने शास्त्र-ज्ञान के ज़रिये प्राप्त परीक्षण-यंत्रों से उन्हें गुज़रने देते हैं। परीक्षण के दौरान पाये गये निष्कर्षों का वे ब्योरेवार वर्णन करते चलना चाहते हैं। जिन सिद्धांतों का वे सहारा लेते हैं, उनसे उनकी अवगति किसी को सतही न दिखाई दे, इसलिए वे अपने शास्त्र-ज्ञान का गहरा परिचय देने की चेष्टा से कहीं भी विरत नहीं होते। इस दृष्टि से उनके हर उपन्यास में घटनाओं को जिस वर्णनात्मकता से क्रमित किया जाता है, वह भी जोशी जी के लिए स्वाभाविक ही है।

वर्णनात्मकता की प्रवृत्ति के लिहाज़ से जोशी और प्रेमचंद की शिल्पगत निकटता का उल्लेख कुछ आलोचकों ने किया है। लेकिन दरअसल यह निकटता ऐसी नहीं है कि प्रेमचंद से जोशी के बुनियादी अंतर को रेखांकित न किया जा सके।

प्रेमचंद की कोशिश हिंदी उपन्यास को एक ऐसी पटभूमि सौंपने की थी, जिस पर युग-जीवन और अनुभव-जगत् एक सहज सामाजिक विस्तार पा सकें। उस पटभूमि पर अनुभव-जगत् के विस्तार का सीमा-निर्धारण कुछ इस प्रकार होता था कि एक ओर यह यथार्थ को अपनी पकड़ से बाहर न जाने दे, तो दूसरी ओर आदर्श को भी छू सके। इस सीमा में मनुष्य का अंतर्मन या अंतर्जगत् कहीं आता ही न हो, ऐसा नहीं है। श्रेष्ठ लेखक विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में पड़े मनुष्य के अंतर्मन और अंतर्जगत में झाँककर भीतर धड़कते उस सत्य को ग्रहण कर लेना चाहता था, जिससे रचना में अनुभव के सामाजिक विस्तार को विश्वसनीय लय दी जा सके। लेकिन जब सामाजिक मानमूल्य परंपरा और आधुनिकता के बीच तनी हुई डोर बनने लगे और उन पर चलना एक सरकसी करतब जैसा होने लगा, तो जीवन की सहजता भीषण ख़तरे में पड़ने लगी। समाज तेजी

से विघटित होने की प्रक्रिया में आ गया। व्यक्तित्व विखंडित होने लगा और अनुभव का सामाजिक विस्तार छिन्न-भिन्न ! 'जहाज का पंछी' के कथानायक के शब्दों में 'आज के विचित्र और अभूतपूर्व युग में मनुष्य का मन शतधा विभक्त हो चुका है, जिसके एक अंश का दूसरे अंश से साधारणतः कोई संबंध नहीं रह गया है।' खंड-खंड विभक्त यथार्थ के लिए अनुभव में पहले जैसा विस्तार घेर पाने का अवकाश नहीं रह गया। विस्तार उसका प्राप्तव्य भी नहीं था। गहराई ही उसको अभीष्ट थी। चेतन, अवचेतन और अचेतन में वह गहरे उतरता गया। खंड-खंड यथार्थ का पीछा करता हुआ आधुनिक लेखक भी उसी दिशा में गतिशील हुआ। अब मन की गहराइयों में झाँक लेने भर से उसका काम नहीं चलने वाला था। उसमें व्यक्ति के अंतर्मन और अंतर्जगत की दूर-दूर तक टोह लेने की प्रवृत्ति जागी।

हिन्दी उपन्यास में इस प्रवृत्ति को अपना सबसे पहला और सबसे ज़्यादा चहेता कथाकार मिला इलाचंद्र जोशी के रूप में।

इस प्रवृत्ति के प्रति जोशी जी की निष्ठा कितनी प्रगाढ़ थी, यह खुद उनके इस कथन से जाना जा सकता है : 'मेरा यह ध्रुव-निश्चित विश्वास है कि व्यक्तियों के अंतर्जीवन के स्वरूप ही सामूहिक बाह्य-जीवन के रूपकों के रूप में—विश्वव्यापी, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के प्रतीक बनकर प्रकट होते रहते हैं।' (विवेचना, पृ. - १७०)। यह कथन इस बात का भी संकेतक है कि जोशी जी के मतानुसार 'व्यक्ति के अंतर्जीवन' की कोई स्वायत्त या नितांत पृथक्कृत सत्ता नहीं होती। वह जैसा या जो भी होता है, बहिर्जगत् का निहित संदर्भ ही होता है। यानी एक अंतर्जगत्। उपन्यासकार जोशी में 'व्यक्ति के अंतर्जीवन' के ओर-छोर तलाशने की जो प्रवृत्ति है, वह इसलिए नहीं है कि वे बहिर्जगत् के यथार्थ से मुँह चुराकर भीतर बैठ जाना चाहते हैं, बल्कि इसलिए है कि 'व्यक्ति के अंतर्जीवन' में ही उन्हें वे तत्व मिलने की उम्मीद रहती है, जो बहिर्जगत् को व्यंजित करने वाले 'रूपक' और 'प्रतीक' बनकर 'प्रकट होते रहते हैं।'

जोशी जी ने अपनी रचनाओं में और चिंतन में 'अंतर्जीवन', 'अंतर्मन', 'अंतः प्रवाह', 'अंतःप्रवृत्ति' जैसे मिलते-जुलते शब्दों का अनेकशः प्रयोग किया है। बहुधा हिंदी आलोचकों ने जोशी जी के यहाँ इस प्रयोगावृत्ति को लक्ष्य करने का सिर्फ़ इतना ही लाभ उठाया कि उन्होंने जोशी जी की कृतियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के कुछ आधार और जुटा लिए। फ़िलहाल हम यह तो नहीं बता सकते कि जोशी जी अपने प्रयोग में आये उपर्युक्त

शब्दों में कोई बारीक अंतर करके चल रहे थे या नहीं, लेकिन उनके उपन्यासों से गुज़रते हुए हमें यह ज़रूर लगता है कि जोशी जी जिसे 'व्यक्ति का अंतर्जीवन' कहते हैं, वह अपने अर्थ में उतना ही नहीं है जिसे मात्र मनोविज्ञान वाला 'अंतर्मन कहकर छुट्टी पा ली जाये। जोशी जी के कथन में जहाँ 'अंतर्जीवन के स्वरूप' की बात आई है, वह दरअसल 'अंतर्जगत्' की बात है। जागतिकता की एक ऐसी संकल्पना जो जोशी की चेतना में है जो बहिर्जगत् ('सामूहिक बाह्य जीवन–विश्वव्यापी तथा अंतर्राष्ट्रीय, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों') की स्वतः दृश्यमानता को अपूर्ण मानती है तथा उसको पूर्णतः दृश्यमान होता पाने के लिए उसके 'रूपकों के रूप' और 'प्रतीक' अंतर्जगत् ('व्यक्ति के अंतर्जीवन के स्वरूप') में टटोलती है। यही है जोशी जी के यहाँ अंतर्जगत् के गहन परीक्षण का लक्ष्य, प्रस्तुत (बाह्य जीवन) के लिए अप्रस्तुत (अंतर्जीवन) का संधान !

यह अप्रस्तुत-संधान उनके उपन्यासों में देखने से पहले, उनके उपरि-उद्धृत कथन के अप्रस्तुत-विधान पर भी थोड़ा विचार अपेक्षित है। जोशी 'व्यक्ति के अंतर्जीवन के स्वरूप' को 'सामूहिक बाह्य जीवन के रूपकों के रूप' में देख रहे हैं। उनके देखने में 'सामूहिक बाह्य जीवन' की स्थिति ग़ौर करने की चीज़ है। व्यक्तिवादी संस्कार और मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में जैनेंद्र को भी जोशी का पड़ोसी माना जाता है। कुछ लोग तो जैनेंद्र के 'परख' को ही हिंदी का पहला मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी मानते हैं। लेकिन जोशी जी की अपनी विशेषता पहचानी जानी चाहिए, जो जैनेंद्र से उन्हें अलग करती है। जैनेंद्र अंतर्मन के भेदी कलाकार हैं, जोशी अंतर्जगत् के परीक्षक-विवेचक। जोशी जी ने जिस 'सामूहिक बाह्य-जीवन' का प्रस्तुत की तरह उल्लेख किया है, जैनेंद्रजी उसे अप्रस्तुत ही रहने देना चाहते हैं। जैनेंद्र के यहाँ 'सामूहिक बाह्य जीवन' बाहर रह जाता है। जागतिकता का वह चाप, जो अंतर्मन को बहिर्जगत् का संदर्भ (यानी अंतर्जगत्) बना सके, जोशी की ही रचनाशीलता में है। जैनेंद्र के पात्रों में जागतिकता का वह चाप लगभग ग़ायब रहता है। उसे वे 'बाहर का आक्रमण' समझकर उसके प्रति प्रतिरोधी भाव रखते हैं। जैसा कि खुद उन्होंने एक जगह (अपनी 'सुनीता' के बारे में बात करते हुए) लिखा भी–'बाहर को निरे आक्रमण के रूप में मैंने घर के भीतर प्रविष्ट नहीं किया।' जैनेंद्र 'बाहर' को उतना ही स्वीकार करते हैं जितने की सत्ता 'भीतर' से अभिन्न हो। उनका मानना है, 'भीतर बाहर ये शब्द में दो हैं; पर यों दो नहीं है। प्रकृति में एक ही हैं।' ('कल्याणी', सोलहवाँ अनुच्छेद)। परिणामतः वे व्यक्ति और परिस्थिति को भी दो भिन्न सत्ताएँ नहीं मानते। उनका विश्वास है कि 'एक को दूसरे की परिभाषा में समझा जा सकता है'

('कल्याणी', सोलहवाँ अनुच्छेद)। और यही वे अपने उपन्यासों में करते भी हैं—व्यक्ति की परिभाषा में परिस्थिति को समझना। परन्तु जोशी इस मामले में भिन्न मत वाले हैं। वे व्यक्ति और परिस्थिति को एक अभिन्न सत्ता के रूप में नहीं देखते। वे उनकी भिन्न सत्ता में परस्पर सापेक्षता का तत्व देखकर मूल समस्या यह मानते हैं कि—'मानव-समाज अंतर्जीवन को उतना ही महत्व क्यों नहीं देता जितना कि बाह्य जीवन को !' (प्रेत और छाया'; भूमिका)। इसीलिए जोशी जी की चिंता बराबर यह रहती है कि 'क्या कोई भी व्यक्ति इस परिस्थिति को शांतचित्त से देख सकता है जिसमें एक पर एक आने वाले विस्फोट हमारे वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को जड़ से उन्मूलन करने की धमकी देते रहें ?' ('प्रेत और छाया'; भूमिका)। जैनेंद्र इस चिंता को या तो 'बाहर का निरा आक्रमण' कहकर अपनी कथा-संवेदना से बाहर ही रखते हैं या फिर उसे अपने पात्रों के 'आत्म-पीड़न' या 'आत्म-दान' की संवेदना में लयीभूत कर देते हैं।

जोशी जी चूंकि अपने उपन्यासों में पात्रों के मनोव्यापारों की व्याख्या करते समय 'बाहर' के प्रति जैनेंद्र का-सा प्रतिरोधी भाव नहीं रखते, इसलिए उनका कोई भी उपन्यास चाहे कितनी ही व्यक्तिवादी प्रकृति का हो और उसमे पात्रों की समस्याओं के व्यक्तिगत रेशों की अंतर्परीक्षा में चाहे कितनी ही एकाग्रता बरती गई हो, समस्याओं के समाजगत रेशों का परीक्षण भी कहीं न कहीं अनायास ही झलक जाता है। 'मुक्तिपथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी' और 'जहाज़ का पंछी'— ये जोशी जी के कुछ ऐसे प्रसिद्ध उपन्यास हैं जिनकी अंतर्वस्तु में व्यक्ति ही नहीं, समाज भी उपस्थित रहता है—अपनी चिंताओं के ठोस यथार्थ के साथ। उनके शुरू के उपन्यासों में अलबत्ता व्यक्ति की उपस्थिति समाज की उपस्थिति पर जरूरत से कुछ ज़्यादा भारी मालूम पड़ती है। लेकिन वहाँ भी जोशी जी की अपनी शैली के आग्रहों की पर्त धैर्यपूर्वक आप अपनी पाठकीय प्रबुद्धता से थोड़ी खुरच जाने दीजिए और तब वर्णित परिस्थितियों की तह पर कान लगाइये, समाज के दबावों का कोई न कोई स्पंदन ज़रूर सुनाई पड़ेगा।

'घृणामयी' जोशी जी का पहला उपन्यास है। बाद में 'लज्जा' नाम से भी यह छपा। इसकी नायिका है लज्जावती। स्वतन्त्र विचारों वाली कुलीन परिवार की एक शिक्षिता युवती। जो अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सत्ता के लिए विकल रहती है—'भगवान्, क्या मैं किसी भी उपाय से संसार के सब स्त्री-पुरुषों की उपेक्षा करके अकेले अपने बल पर खड़ी नहीं हो सकती ?' यह एक प्रकार से अपने समय के संक्रमण से गुज़रती उस नारी का प्रतीक है जिस पर अब 'बाहर' का दबाव इकहरा नहीं रह गया है। पारम्परिक आग्रहों

और नयी आकांक्षाओं के बीच समाज अभी अपना रुख़ ठीक-ठीक तय नहीं कर पा रहा है। एक तरफ़ वह स्त्री-संबंधी मर्यादावादी दृष्टि के अवशेष के रूप में स्त्री के अवचेतन को दमित इच्छाओं का तलघर बनाये रखना चाहता है, दूसरी तरफ़ आधुनिकता के स्वच्छंदताकामी उन्मेष के रूप में स्त्री के अवचेतन को प्रतिक्रियाओं का अप्रत्याशित पड़ाव बना देना चाहता है। लज्जावती में सभ्यता और शिक्षा के आधुनिक संस्कारों को अपनाने का उत्साह उसकी जिस जीवन-शैली में फलीभूत होता है, जोशी जी जानते हैं कि वह जीवन-शैली पारंपरिक मर्यादावाद के गले नहीं उतरेगी और उनकी लज्जावती दूसरों की निगाहों में रहेगी घृणामयी ही। जोशीजी उसके आत्मनाश को न तो सामाजिक गर्व का विषय बनाना चाहते हैं, न सामाजिक करुणा का। वे उसे सामाजिक आत्म-परीक्षण का विषय बनाना चाहते हैं। उपन्यास के नामकरण में भी जोशी जी की साहसिकता ध्वनित होती है। उपन्यास का नाम 'घृणामयी' रखकर मानो वे अपनी नायिका के स्वच्छन्द व्यवहार और तज्जन्य परिणामों पर नहीं, बल्कि मर्यादावादियों के जड़-बुद्धि बने रहने पर तरस खा रहे हैं। इस दृष्टि से जोशी जी की इस प्रारंभिक कृति को हिंदी का पहला मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास होने का ही श्रेय नहीं, बल्कि एक नई धारा में व्यक्तिवादी कला-चेष्टा को समाज-चिंता से पूर्णतः विरहित न होने देने के उपक्रम की एक पहल होने का भी श्रेय मिलना चाहिए। 'घृणामयी' को विशुद्ध व्यक्तिवादी उपन्यासों की कोटि में रखने वाले अध्येता अक्सर इस बात को नज़र-अंदाज कर जाते हैं। 'घृणामयी' की नायिका अपने अहंभाव में डूबी, आत्मग्रस्त स्वच्छंदता चाहती है जबकि उसका भाई अपने अहम् को उदात्तीकृत करके समाज-हित में विसर्जित करने की दिशा में बढ़ना चाहता है। इन दोनों आकांक्षाओं की आपसी टकराहट भाई को आत्महत्या की ओर अग्रसर करती है और बहन को उसके आहत अहंभाव की त्रासद परिणति की तरफ़।

'घृणामयी' के बाद लगभग दो दशकों की अवधि में जोशी जी के जो चार अन्य उपन्यास बारी-बारी से छपे—'संन्यासी', 'परदे की रानी', 'प्रेत और छाया' तथा 'निर्वासित', उन्हें भी विशुद्ध व्यक्तिवादी उपन्यासों के वर्ग में ही रखा गया। (द्रष्टव्य, हिंदी-साहित्य कोष, पृ. - ४० - ४१)। पर इन उपन्यासों में भी समस्याओं के सामाजिक रेशों की उधेड़-बुन एकदम ग़ायब नहीं है। भले ही उसका वस्तुगत परिप्रेक्ष्य वैयक्तिक ऊहापोहों में बिखरकर अस्तव्यस्त हो जाता हो।

जोशी जी आधुनिक जीवन की विसंगतियों को व्यक्ति-चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत करना अधिक कलागर्भी मानते हैं। इसलिए घटनाओं की संगत संयोजना पर उनका ध्यान

उतना नहीं रहता जितना चरित्र-चित्रण पर। घटनाओं की विशृंखलता ही अक्सर उनके उपन्यासों में सामाजिक चिंताओं के वस्तुगत परिप्रेक्ष्य को भी विशृंखलित कर देती है। लेकिन अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय जोशी जी अपनी सभी कृतियों में जिस वस्तुपरकता के साथ पात्रों के चरित्रगत 'अहंभाव' की एकांतिकता का विश्लेषण करते हैं, वह निरुद्देश्य नहीं होती है। यद्यपि उस पर जोशी जी कोई सामाजिक अर्थ आरोपित नहीं करते, फिर भी पात्रों के चरित्र में निहित 'अहम्' के एकांगी उभार का दुष्परिणाम दिखाकर स्वस्थ सामाजिकता के लिए उपस्थित ख़तरों की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करते रहते हैं। इस उद्देश्य के प्रति जोशी जी कितने सचेष्ट हैं, इसकी पुष्टि उनकी इस मान्यता से भी होती है–'आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर, व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चलता है। अपने तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले अपने आस-पास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है।' ('विवेचना', पृ. - १२४) ।

सामाजिक संबंधों की भारतीय अवधारणा के अंतर्गत प्रेम और अहंभाव के बीच प्राय: विलोमानुपात पर विशेष बल दिया गया है। जोशी जी इस अवधारणा का मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण कराना चाहते हैं। इसीलिए उनकी कृतियों में प्रेम विवाह का स्वरूप भी असामान्य है।

स्त्री-पुरुष के व्यक्तिगत संबंधों को समाज विवाह नाम की संस्था के अधीन हो जाने पर ही स्वीकृति-योग्य मानता है। लेकिन जोशी जी के उपन्यासों के अधिकांश नायक इसके विरुद्ध ही तर्क-प्रवृत्त होते मिलते हैं। इस संस्था का कैसा-कैसा उपयोग करने की प्रेरणा दमित मन देता है, जोशी जी के उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में इस बात की परख बार-बार होती चलती है और यह तथ्य उजागर होता चलता है कि समाज की विवाह जैसी संस्थाएँ किन विसंगतियों को तृप्त करने में अक्सर ही काम आ जाती हैं। जोशी जी के उपन्यासों के कई पात्र विवाह-संस्था का ऐसा ही उपयोग करते हैं और वे मानसिक रूप से दुर्बल होते हुए भी अपने-अपने विवाहों के संबंध में आत्म-स्वीकार की जिस साहसिकता का परिचय देते हैं, उसका लक्ष्य किसी न किसी रूप में समाज भी होता ही है। 'संन्यासी' का कथानायक नंदकिशोर कहता है, 'विवाह, जयन्ती से विवाह ! इसका अर्थ यह है कि यही जयंती जो इस समय मेरे इतने निकट होने पर भी मुझसे इतनी दूर

है, मेरी दासी बनकर रहेगी और अपने अज्ञात गर्व और अव्यक्त घृणा के भावों के कुचले जाने पर आँधी के वेग से विच्छिन्न लता की तरह एकमात्र मेरे चरणों का आश्रय पाकर विवश होकर उनसे लिपटी रहेगी। इस भावना में कितना सुख है!' ('संन्यासी', पृ. - ३३३)। 'परदे की रानी' में निरंजना से निराश होकर नायक जब शीला से विवाह करता है तो बाद में निरंजना को इस विवाह का 'यथार्थ कारण' यह बताता है—'मैंने विवाह केवल इस आशा से किया था कि इस बात से आपके मन पर मेरे संबंध में अच्छी धारणा जम जाएगी !' ('परदे की रानी', पृ. - १७८)। इतना ही नहीं 'प्रेत और छाया' में पारसनाथ के पिता की आत्म-स्वीकृति तो और भी हिला देने वाली है। वह न केवल विवाह-संस्था की सामाजिक औपचारिकता को संदिग्ध बना देता है बल्कि विवाह-संस्था के आदर्श-रूप से जुड़ी सतीत्व की परिकल्पना के भी प्रतिक्रियात्मक उपयोग के संबंध में अपने पुत्र के सामने अंततः यही स्वीकार करता है कि 'मैं भली-भाँति जानता था कि तुम्हारी माँ के रक्त की एक-एक बूँद में सतीत्व की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। शायद इसी प्रतिक्रिया के फल से मेरे विरत मन को यह विश्वास करने की इच्छा हुई कि वह घोर असती है।' ('प्रेत और छाया', पृ. - ३८५)।

इसी प्रकार अर्थ-पिपासा-जनित भटकाव, लक्ष्य-विहीन जीवन की निरर्थकता का बोध आदि के भी कई चित्र जोशी जी उपन्यासों में मिलते हैं। यह ज़रूर है कि वे इन चित्रों को भी बस यों ही रख देते हैं—किसी स्पष्ट सामाजिक फ्रेम में मढ़े बिना। लेकिन जिस कोण से वे उन्हें दिखाते हैं, उस कोण को निर्धारित करने वाली सत्ता के रूप में समाज वहाँ अपनी जगह अक्सर बना लेता है। 'प्रेत और छाया' में नायक पारसनाथ जब नंदिनी का निमंत्रण पाकर नंदिनी के यहाँ पहुँचता है तो नंदिनी के पति के बारे में खुद नंदिनी के मुँह से उसे सुनने को मिलता है—"आप नहीं जानते, यह महाशय कितने बड़े अर्थ-पिशाच हैं ? रुपयों के लिए क्या नहीं कर सकते....रुपयों की ख़ातिर अब आपसे क्या छिपाऊँ, यह मेरी इज्ज़त तक उतारने पर उतारू हो गये थे....।" नंदिनी यह सब निश्चय ही अपने पति की अनुपस्थिति में कह रही होती है, लेकिन क्या सचमुच समाज भी यहाँ अनुपस्थित है ? संवेदनशील पाठक सहज ही महसूस करेगा कि समाज यहाँ उपस्थित है, अपनी अर्थवादी मौलिक प्रेरणाओं के दबाव के साथ। जीवन की लक्ष्य-विहीनता 'परदे की रानी' की निरंजना के इस अहसास में कि 'न कोई अपने जीवन का लक्ष्य दीख पड़ता है, न अपने अस्तित्व की कोई उपयोगिता ही समझ में आती है' जिस तरह कौंध रही है, समाज उस कौंध में क्या सचमुच एकदम अदृश्य रहा जाता है ?

बेशक इस प्रकार के अनेक स्थलों पर जोशी जी के उपन्यासों में एक तरह की वैयक्तिक नियतिवादिता बराबर मँडराती रहती है। इस वैयक्तिक नियतिवादिता की विशेषता यह दिखती है कि जोशी जी इसके कारण-रूप में अपने पात्रों के अहंभाव को रेखांकित करते चलते हैं। जोशी जी की औपन्यासिक संवेदना में चूंकि नारी-पात्रों के प्रति सहानुभूति का भाव अधिक है, इसलिए पुरुष-पात्रों के मुकाबले स्त्री-पात्रों के स्वभावगत अहम् का, उनके चरित्र-चित्रण में वे किंचित् परिष्करण करते रहने का भी ध्यान रखते हैं। संभवतः 'घृणामयी' की लज्जा और 'परदे की रानी' की निरंजना तथा 'सुबह के भूले' की गिरिजा जैसे आत्म-दर्पी स्त्री-पात्र यथार्थ जीवन के घात-प्रतिघात सहकर अंततोगत्वा अपने अहम् को परिष्कृत करने की ही दिशाएँ ढूँढ़ना चाहते हैं। इसीलिए इन पात्रों की आत्म-स्वीकृतियाँ (कन्फ़ेशन्स) बहुत साहसपूर्ण होती हैं। हालाँकि अपनी तरफ़ से कोई गंभीर झटका देकर समाज को अपनी व्यवस्था बदलने की सीधी प्रेरणा वे नहीं दे पातीं। तो भी इन आत्मस्वीकृतियों का महत्त्व अपनी जगह है। क्योंकि वे समाज-व्यवस्था की आड़ में अपनी तुष्टि का आधार पाती विकृतियों की ओर दबे पाँव हमें ले जाकर उनकी समस्यात्मकता का दर्शन तो करा ही देती हैं और आशा करती हैं कि हम कुछ बेचैन होंगे।

'मुक्तिपथ' से जोशी जी की औपन्यासिक संदृष्टि का पथ किंचित् विस्तीर्ण होता है। उनकी संवेदना के प्रदेश में सामाजिक जलवायु के 'बेल्ट' (Belts) कुछ ज़्यादा पहचान में आते हैं। हालांकि इनका पूर्वाभास 'निर्वासित' से ही मिलने लगा था। 'निर्वासित' के लिए अपने प्रमुख पात्रों का चुनाव करते समय लेखक के मन में जिस जीवन का ख़ाका रहा होगा, वह दूसरे विश्वयुद्ध के आसपास की परिस्थितियों में भारतीय समाज के उस मध्यवर्ग का जीवन है, जिसके बारे में जोशी जी बताते हैं कि इस वर्ग के जीवन की पिछली सभी मान्यताओं का मूल आधार ही जैसे ढह गया। 'युगों से वह जीवन के प्रति जिस अलस-लालस-रसावेशमय दृष्टिकोण को अपनाये हुए था, जिस रूढ़िगत जड़तापूर्ण शांतिवाद को छाती से लगाये हुए था, वह युगांतरकारी तूफ़ानी हवा की एक प्रबल फुफ्कार से न जाने कहाँ छिन्न-भिन्न हो गया !' ('निर्वासित', भूमिका, पृ. - २)। 'निर्वासित' के नायक महीप की यंत्रणा काफ़्का-कामू के अस्तित्ववादी अर्थ वाले आत्म-निर्वासन की वह यन्त्रणा नहीं है जिसे हिंदी उपन्यास में आगे चलकर अज्ञेय आदि ने निरी वैयक्तिक संवेदना का लेप बनाकर प्रस्तुत किया। महीप के व्यक्तिगत जीवन की त्रासदी यह है

कि उसका प्रेम 'उस नारी ने अंत तक ठुकराया है, जिसे वह बराबर अंतर्साधना के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकमात्र संबल मानता रहा।' ('निर्वासित', पृ. - ४१९)। 'जिन दो और नारियों की आत्मीयता उसने किसी हद तक प्राप्त की थी, उन्हें भी उसने अपने स्वभाव की अनिश्चयात्मकता और असामंजस्य के कारण अपने से अलग कर दिया।' ('निर्वासित', पृ. - ४१९)। और उसके सार्वजनिक जीवन का त्रासद अनुभव यह है कि 'इस समय अंतर्राष्ट्रीय जगत् के धूर्त नियन्तागण विश्व-कल्याण का ढोंग रचते हुए जिन विश्व-व्यवस्थाओं और विश्वयोजनाओं का जाल फैलाने की चेष्टा कर रहे हैं, वे निश्चित् रूप से जनता को विनाश के गढ़े की ओर ढकेलते चले जा रहे हैं।' ('निर्वासित', पृ. - ४१८)। व्यक्तिगत और सार्वजनिक, जीवन के इन दोनों पक्षों से रिसती हुई वेदना 'निर्वासित' के नायक के भीतर इस प्रश्न में घनीभूत होती है –"इस पृथ्वी से परे किसी दूसरे ग्रह से मानवत्व के सच्चे रूप के विकास की जो स्वप्नमयी कल्पना तुम कर रहे हो महीप, उस स्वर्गीय आशावादिता के बल पर तुम इस पृथ्वी पर जीवित कैसे रह सकते हो ?" ('नि.र्वासित', पृ. - ४१८)

'स्वप्नमयी कल्पना' और 'स्वर्गीय आशावादिता' पर प्रश्नचिह्न लगते देखना यहाँ कम अर्थवान् नहीं है। जीने के लिए जो भी और जैसे भी आधार हो सकते हैं, यथार्थपरक ही हो सकते हैं। वे अगर अपनी इसी ठोस धरती पर न पाये जा सकें तो उनका कुछ भी अर्थ नहीं होता। लेकिन 'निर्वासित' के लेखक के साथ कठिनाई यह है कि एक अर्थवान् बात अपने नायक के मुँह से कहलाकर फिर वह मृत्यु के कगार पर उसे अकेला छोड़कर अलग हट जाता है। वह यह स्पष्ट नहीं करता कि उसका नायक 'जीने के आधारों' के व्यावहारिक होने की आवश्यकता मात्र पर बल दे रहा है या फिर जीने के आधारों को उपलब्ध कराने वाले यथार्थ समाज की रचना के लिए हमारा आह्वान भी कर रहा है।

जोशी जी के बारे में तत्कालीन प्रगतिवादी आलोचना में कई जगह तीखी शिकायतों का स्वर उभरता रहा। प्रकाशचंद्र गुप्त ने लिखा, "आप सबसे पहले आस्कर वाइल्ड के प्रभाव से कलावादी बने और कला कला के लिए सिद्धांत में आपकी बड़ी आस्था है" ('साहित्य-संदेश', अगस्त १९४७)। रांगेय राघव ने राय दी– "–इलाचंद्र जोशी का 'परदे की रानी' अंतश्चेतनावाद का प्रतीक माना जाता है – लेखक की कमी क्या है ? उसने अपने पात्रों को जैसे वे हैं, वैसे ही बने रहने की इच्छा दी है। वह उसके अंतश्चेतनावाद का मूल है। वह है, समाज को बदलो मत !" ('प्रगतिशील साहित्य के मानदंड', पृ. -

३३४)। जोशी जी अपने वक्तव्यों में इन आरोपों का खंडन करते हुए प्रगतिवादी आलोचकों के प्रति अपना गहरा असंतोष व्यक्त करते मिलते हैं। लेकिन रचना-यात्रा के अगले पड़ावों पर अपने पात्रों के अंतर्जगत् में सामाजिक चिंताओं की व्याप्ति को वे जिस प्रकार रेखांकित करते हैं, उससे यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि प्रगतिवादी आलोचना से वे सचेतनतया कितने ही असंतुष्ट रहे हों लेकिन रचनात्मक प्रतिक्रिया के तौर पर वह उनके लिए लाभप्रद ही रही होगी।

'मुक्तिपथ' केवल इसलिए मुक्ति-पथ नहीं है कि परिवार के एक छोटे-से दायरे में संतुष्ट और सीमित स्त्री सुनंदा को राजीव नामक पुरुष विद्रोह की दिशा दिखाता है और प्रेरणा देता है कि वह अपनी विश्व-विजयिनी मूल प्रेरक शक्ति को इस विशाल विश्व के विराट् परिवार की सेवा में लगाये। मुक्तिपथ इसलिए भी मुक्तिपथ है कि उसमें लेखक मनोविश्लेषणवाद के शास्त्रीय आग्रहों की जकड़न से भी मुक्त होने की चेष्टा कर रहा है। 'मुक्ति-निवेश' की स्थापना के बाद सुनंदा के मन में, जब राजीव से भी असहमत होते हुए स्वतन्त्र नारी की चेतना जागती है, तो उसकी अभिव्यक्ति उसके इस सारवान् उद्‌बोधन में होती है :

'आप यदि ऐसी कोई विश्वयोजना चाहते हैं जो सम श्रम द्वारा सच्चे अर्थों में समकल्याण और स्थायी शांति स्थापित करने में सफल हो तो बाहर के पार्थिव जीवन के साथ-साथ भीतर के भाव-जीवन के विकास की ओर भी सचेष्ट रहें।' ('मुक्ति-पथ', पृ. - ४२४)।

यहाँ बल 'भीतर के भाव-जीवन' की व्याख्या मात्र पर नहीं है (जिसके लिये जोशी जी मनोविश्लेषणवाद का प्रयोग करते रहे हैं) बल्कि यहाँ बल 'भीतर के भाव-जीवन के विकास' पर है। बल का यह स्थानांतरण जोशी जी की रचनाशीलता में ध्यान देने योग्य है।

'सुबह के भूले' में भी 'भाव-जीवन' के उतार-चढ़ाव और उसके विकास की ही कहानी है। जिंदगी के कठिन संघर्षों से जूझती एक ग्रामीण विधवा झमिया बम्बई में अपने मुँहबोले देवर महावीर और देवरानी मालती के साथ दूध के धंधे में लगी गुज़र-बसर करती है। महावीर की प्रेरणा से झमिया पढ़ना-लिखना भी सीख जाती है। अपनी भोली-भाली बिटिया गुलबिया को भी स्कूल भेजने लगती है। कुशाग्र बुद्धि गुलबिया शिक्षा पाकर गिरिजा में रूपांतरित हो जाती है। फिर बम्बई के महानगरीय परिवेश के दबाव में वह अपनी माँ और चाचा-चाची के बीच कुछ ऐसा आत्म-परायापन महसूस करने लगती है कि 'फैशनेबुल

समाज के लुभावने वातावरण' की तुलना में उसे अपने घर का सारा वातावरण 'अत्यंत विजातीय, नीरस और निर्जीव' लगने लगता है। यहाँ तक कि जिस किशन के साथ बचपन से ही खेलते-कूदते, प्यार में लड़ते-झगड़ते वह बड़ी हुई थी और 'जिसके मुख पर सहज स्नेहपूर्ण भोली मुस्कान देखते ही उसका उदास मन भी बरबस खिल उठता था', उसके प्रति भी 'उसके मन में विरक्ति का भाव जगा' ('सुबह के भूले', पृ. - १०२)। बचपन की भोली-भाली सहज 'गुलबिया' बड़ी होकर पढ़ी-लिखी आत्म-सजग 'गिरिजा' में किस तरह गुम हो जाती है, उपन्यास में इसका वर्णन बड़ी संवेदनशीलता के साथ लेखक ने किया है। अंततः जब गिरिजा फ़िल्म के क्षेत्र में सफलता पाती है तब वह फिल्म के लिए एक कहानी लिखती है– 'सुबह के भूले', जिसमें 'बम्बई के फैशनेबुल समाज के कृत्रिम जीवन और सांस्कृतिक ढोंग का पर्दाफ़ाश' किया जाता है ('सुबह के भूले', पृ. - १८४)। गिरिजा और किशन न केवल इस फ़िल्म के नायक-नायिका होते हैं बल्कि वास्तविक जीवन में भी वे अपनी खरी भूमिका अंततोगत्वा निभा पाते हैं।

'जिप्सी' में फ़्रायड का अचेतन और उपचेतन वाला सिद्धांत पुनः जोशी जी की चेतना मे जोर मारता है। लेकिन इस बार वे उस सिंद्धात में से जो कला लेकर आते हैं, वह है 'सम्मोहन कला'। 'जिप्सी' का नायक नृपेंद्र रंजन सम्मोहन कला का विशेषज्ञ है। वह मनिया पर इसी कला का प्रयोग कर उसे सम्मोहन-निद्रा में ले जाता है। पर ज्यों-ज्यों मनिया में आत्म-विश्वास और स्वतंत्र चिंतन का सामर्थ्य बढ़ता है, सम्मोहन के प्रभाव से वह मुक्त होती जाती है। यद्यपि हिंदी उपन्यास में शायद यह पहला मौक़ा है जहाँ कथा-सूत्र के विकास में सहायता देने वाले एक प्रमुख तत्व के रूप में सम्मोहन का प्रयोग किया गया है, लेकिन फिर भी संवेदनात्मक स्तर पर इसका कोई रचनात्मक उपयोग उपन्यास में संभव नहीं हो पाया है। पात्रों की स्वाभाविक गति को यह बाधित करता है और कथा-तत्व को क्षरित। गनीमत यही है कि सम्मोहन की सफलता-असफलता के प्रश्न को लेखक ने उद्देश्यगत नैतिकता के प्रश्न से संबंधित कर देने की सावधानी बरती है। इसी सावधानी का परिणाम है 'जिप्सी' के नायक की यह आत्म-स्वीकृति–'तब मेरी सफलता का कारण यह था कि तब मैं मनिया की सच्ची मंगल-कामना से प्रेरित होकर–सच्चा आत्मिक बल पाकर उसके मन को प्रभावित करने को उद्यत हुआ था। पर आज मैं उसकी वास्तविक कल्याण-कामना से प्रेरित न होकर अपनी स्वार्थहानि की आशंका से ईर्ष्या-दग्ध होकर कृत्रिम मानसिक बल के प्रयोग से हिप्नोटाइज़ करने चला था।' ('जिप्सी', पृ. - १४७)।

'जहाज़ का पंछी' महानगरीय सभ्यता में तरह-तरह के अनुभवों के थपेड़े खाते एक

सामान्य जन की भटकती ज़िंदगी की विस्तृत गाथा है। कलकत्ता जैसी 'विराट् नगरी' ! और उसकी संकीर्णता की हद यह कि एक निराश्रित व्यक्ति को इतनी भी जगह सुलभ न हो सकी कि वह 'दो हाथ और दो पाँव पसारकर लेट सकता और अपने पिछले सत्ताइस वर्षों के जीवन की थकान कुछ समय के लिए भुला सकता !' महानगरीय सभ्यता की विराट्ता और संकीर्णता के इसी द्वंद्व से इस उपन्यास की शुरुआत होती है। यही द्वंद्व पूंजीवादी मनो-व्यापारों और मध्यवर्गीय ज़िंदगी के अंतर्विरोधों से होकर गुज़रता हुआ पूरे उपन्यास में व्यापता जाता है और एक तरह से उपन्यास की केंद्रीय थीम बन जाता है। कथानायक किसी आकर्षणवश या जिज्ञासा के कारण कलकत्ता नहीं आया है। उसकी ज़िंदगी के भटकावों ने ही उसे कलकत्ता ला पटका है। लेकिन यहाँ भी उसके भटकावों का अंत होता नहीं दिखता। सबसे विकट समस्या तो यह है कि उसकी लाचारी को समझने वाला ही कोई नहीं मिलता। कोई उसे आवारा-उचक्का समझता है तो कोई गिरहकट। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में अपनी-अपनी समझदारी का सिक्का जमाने की होड़ लगाते युवक हों या कानून और व्यवस्था के प्रति अपने दायित्व की समझ के दावेदार पुलिसकर्मी हों अथवा आउट्रम घाट पर लगे जहाज़ पर यात्रा कर रहे प्रेमी युगल—सबकी समझ उसके बारे में धोखा ही खा जाती है। नतीजा यह कि कथानायक अपने को कभी किसी अस्पताल के जनरल वार्ड के पलंग पर पड़ा पाता है, कभी किसी जेल की कोठरी के फर्श पर। यह ज़रूर है कि उसकी आशा के बंद दरवाज़ों को ये सारी जगहें मानवीय रागात्मकता की कोई न कोई दस्तक भी सौंपती रहती हैं। अस्पताल में उसकी मुलाक़ात 'प्यारे' धोबी से होती है, जेल के भीतर 'मजीद' (कैदी) से और जेल के बाहर 'करीम चाचा' से। ये सब मानो महानगरी में मरुस्थल होती संवेदना के लिए नखलिस्तान हैं।

कला, दीप्ति और लीला जैसी युवतियों का चरित्र भी कथानायक की ज़िंदगी को अपनी-अपनी तरह से प्रेरित और ऊर्जस्वित करता है। कला एक 'हिंदू तवायफ़ की लड़की' है, जिसे हिंदी पढ़ाने का काम करीम चाचा की मेहरबानी से उसे मिल जाता है। कथानायक को यह जानकर खुशी होती है कि पंचानन जैसा युवक उससे शादी करने को रज़ामंद होकर उसे सम्मानित ज़िंदगी बिताने का सहारा देने जा रहा है। दीप्ति के प्रति वह अपना सम्मान और ममत्व इन शब्दों में व्यक्त करता है : 'तुम नये युग की नई मानवता की मंगलमय बहन हो....।' लीला के चरित्र में तो वर्गांतरण और व्यक्तित्वांतरण की चरितार्थता के तत्व अन्ततः उसे एक ऐसा आश्रय ही दे देते हैं, जिससे भागना चाहकर भी वह भाग नहीं पाता। नायक की उन्मुक्तताकामी वैयक्तिक चेतना आदर्शवाद के

आकाश में बारबार उड़ान भरती है लेकिन यथार्थाधारी सामाजिक भावना का आश्रय लिए बिना उसकी गुज़र कहाँ ? 'जहाज़ का पंछी' इसी सत्य का प्रतीकत्व निभाता है और आधुनिक मनुष्य की वैयक्तिक चेतना के समाजश्रयी स्वरूप को तलाशे जाने की आवश्यकता पर बल देता है।

अत्यन्त तेजी से भौतिक विकास कर रहे मनुष्य-जीवन के सामाजिक स्वरूप के प्रकृत और विकृत आयामों का अन्तर रेखांकित करने के इरादे से जोशी जी ने अगला उपन्यास लिखा– 'ऋतुचक्र'। इसमें 'सामूहिक पागलपन' के दौर से गुज़रती दुनिया के अपने दबावों का भी ज़िक्र है और इस स्वाभाविक मानवीय चिंता का भी उन्मेष है कि पिछले सभी आदर्श, मूल्य और मान्यताएँ या तो ढह चुकी हैं या तेजी से ढह रही हैं। 'बदले में एक भी नये मूल्य या नये आदर्श का निर्माण नहीं हो पाया है। एक शून्य की स्थिति में किस उद्देश्य को लेकर हम लोग जीएं !' ('ऋतुचक्र', पृ. - ९५)। आधुनिक जीवन की उद्देश्यहीनता ने मनुष्य के अस्तित्व को ही संकटग्रस्त कर दिया है। जोशी जी इस वास्तविकता को अपनी औपन्यासिक संवेदना में तरह-तरह से आयत्त करना चाहते हैं। 'भूत का भविष्य' नामक उपन्यास भी इसी क्रम में रचा जाता है। 'आज की इस दुनिया में व्यक्ति के लिए भय के सिवा और बचा ही क्या है ? बस, जीने का एकमात्र सहारा यही भय तो शेष रह गया है। सब समय भय को हृदय से जकड़े रहो और उसी की चिन्ता में जीते रहो ?' ("भूत का भविष्य', पृ. - २५-२६)। कह सकते हैं, जैसा कि 'भूत का भविष्य' में नंदा से भूतनाथ कहता है, 'यह कोई जीना नहीं है !'

अपने अंतिम उपन्यास 'कवि की प्रेयसी' में जोशी जी कालिदास द्वारा 'मालविकाग्निमित्रम्' में उल्लिखित एक अज्ञात कवि सौमिल्लक को नायक बनाकर मानो उसकी काल्पनिक जीवनी लिखने का प्रयास करते हैं। अपनी कथा-संघटना में यह उपन्यास ऐतिहासिकता का आभास कराता है लेकिन, जैसा कि उपन्यासकार स्वयं भी अपने पाठकों से प्रस्तावना में ही कह देता है, 'कवि की प्रेयसी' न तो ऐतिहासिक चित्र है, न फैंटेसी। यह एक कल्पना-प्रधान उपन्यास है। जोशी जी की औपन्यासिक संदृष्टि का मिज़ाज अधिकतर तथ्य में ही सत्य को ढूंढने का रहा है, फिर वह तथ्य उन्होंने चाहे शास्त्र-ज्ञान से पाया हो अथवा प्रत्यक्ष जीवनानुभव से। तथ्य ही उनके यहाँ सृष्टि-विधायक तत्त्व होता है। कल्पना की सृष्टि-विधायिनी शक्ति को आज़माने का उनका रियाज़ नहीं के बराबर है। इसीलिए 'कवि की प्रेयसी' नामक कल्पना-प्रधान उपन्यास लिखने की कोशिश अंततः उनकी एक ज़िद ही साबित हो पाती है, रचनात्मक ज़रूरत नहीं।

दरअसल 'जहाज़ का पंछी' लिखे जाने के बाद से जोशी जी के उपन्यास-लेखन में रचनात्मकता का ढलान दिखने लगता है। 'जिप्सी'–जो औपन्यासिक कला की दृष्टि से जोशी जी की सबसे कमज़ोर रचना है–के बाद 'जहाज़ का पंछी' हिंदी उपन्यास-साहित्य के लिए अप्रत्याशित उपलब्धि-सा प्रतीत हुआ था। इससे आशा बँधी थी कि जोशी जी उपन्यास के यथार्थवादी शिल्प की ओर अपना रचनात्मक रुझान अधिकाधिक प्रमाणित कर सकेंगे और अपने रचनागत अनुभवों पर अपने अध्ययनगत सिद्धान्तों का मुलम्मा चढ़ाने की प्रवृत्ति से अब बाज़ आते हुए दिखेंगे। लेकिन यह आशा फलीभूत न हो सकी। पश्चिमी मनोविश्लेषणवाद की सीमाओं का अतिक्रमण करने की कोशिश में भी उन्होंने अनुभूतिप्रवणता का उतना सहारा नहीं लिया, जितना शास्त्र-प्रवणता का। नतीजा यह हुआ कि 'ऋतुचक्र' और 'भूत का भविष्य' जैसी कृतियों में वे पश्चिमी शैली के मनोवैज्ञानिक आग्रहों से किंचित् उबरे, तो भारतीय शैली के जन्म-जन्मांतरगत संस्कारवाद में उलझ गये। अवचेतना से पराचेतना या रहस्चेतना की तरफ़ मुड़ गये।

जोशी जी की रचना-यात्रा में आरंभिक उठान के रूप में 'संन्यासी' और अंतिम उठान के रूप में 'जहाज़ का पंछी' का महत्त्व अलग से विचारणीय है। ये दोनों उपन्यास क्रमशः जोशी जी की रचनाशीलता में पाई जाने वाली दो विशेष प्रवृत्तियों की सर्जनात्मक निष्पत्ति हैं। दमित कामवासना, हीनता-ग्रंथि, अहम् की स्फीति, वैयक्तिक कुंठा और स्व-स्थापन आदि तत्वों की पीठिका पर मनोविश्लेषणात्मक अभिवृत्ति से प्रेरित होकर लिखी गई उनकी रचनाओं में अधिकांश रचनाएँ 'सायास औपन्यासिकता' का ही उदाहरण बनकर रह गईं। 'सहज औपन्यासिकता' के तकाज़ों की पूर्ति जिस मात्रा में 'संन्यासी' कर सका, उस मात्रा में न 'घृणामयी' उपन्यास कर सका था और न ही 'प्रेत और छाया', 'परदे की रानी' अथवा 'जिप्सी' नामक उपन्यास कर सके। 'संन्यासी' में स्त्री-पुरुष-प्रेम की कई-कई छवियों को एक जटिल सम्मिश्रता का अनुभव बनाकर रख पाने में जोशी जी को काफ़ी हद तक सफलता मिली। इसमें नंदकिशोर के अहंभाव-युक्त प्रेम का कामुक उभार, शांति की स्वस्थ और सात्विक प्रेमाभिव्यक्ति, जयंती के प्रेम की उन्मुक्ता और सौन्दर्य-तप्त विलास-दग्धता तथा कैलाश का स्वेच्छाचारी प्रेम-प्रपंच–ये सब, प्रेम-व्यापार के कई पक्ष चित्रित हैं। ये सब पक्ष कितने ही विशृंखलित लगते हों लेकिन 'संन्यासी' के औपन्यासिक प्रवाह में विसंगत नहीं लगते। इसी प्रकार मध्यवर्गीय व्यक्ति के अंतर्मन के द्वंद्व और बाह्य परिस्थितियों के समस्यात्मक दबावों के सन्दर्भ में यथार्थवादी अभिवृत्ति से प्रेरित होने का आभास कराने वाली कृतियों में जोशी जी को सर्वाधिक सफलता 'जहाज़

का पंछी' में मिली। 'निर्वासित' लिखकर जोशी जी बाह्य परिस्थितियों से संत्रस्त और प्रताड़ित व्यक्ति की अंतर्वेदना की गाथा जिन सामाजिक सन्दर्भों में सुनाना शुरू करते हैं, वे सन्दर्भ 'मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' नामक उपन्यासों में प्रायः सुधारवादी और हृदय-परिवर्तनवादी आग्रहों से आगे जाकर खुलने का कोई अवसर कम ही पाते हैं। 'जहाज़ का पंछी' में आकर लेखक की आँख मानों पूरी तरह खुल जाती है और वह यथार्थ का साक्षात्कार करता है। 'असल बात यह है कि केवल हृदय-परिवर्तन संबंधी उपायों द्वारा ही मानव-समाज में स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व और समता की भावनाएँ स्थापित नहीं की जा सकतीं।' ('जहाज़ का पंछी', पृ. - २४१)। मनोविश्लेषण के सैद्धांतिक उपकरणों से अंतर्जगत् की प्रयोगशाला में लेखक लगातार जिस भाव-सत्य या आत्मिक सत्य की शोध में व्यस्त रहा, उसके प्रति अतिरिक्त मोह भी 'जहाज़ का पंछी' में किंचित् कम होता दीखता है। तभी तो 'जहाज़ का पंछी' का नायक यह कह पाता है, 'आत्मिक सत्य भौतिक सत्य से निश्चय ही बड़ा है, पर बिना भौतिक सत्य के, उसकी पूर्ण उपलब्धि हो ही नहीं सकती। भौतिक सत्य ही उसका मूल आधार है....' ('जहाज़ का पंछी', पृ. २३०-२३१)।

भौतिक सत्य की सापेक्षता में आत्मिक सत्य की इस तरह पहचान करना समाज और व्यक्ति के अंतःसंबंधों की पहचान की वस्तुपरक कोशिश का एक अंग है। 'जहाज का पंछी' का नायक कहता है–'मेरी पीड़ा व्यक्ति की पीड़ा नहीं है' (पृ. - ३०३)। वह अपने भीतर 'सामूहिक पीड़ा' को अनुभव करता है। लीला जैसी धनी-मानी और सुख-सुविधा-संपन्न नारी का प्यार पाकर भी वह उससे यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी समझता है : 'भूलकर भी न समझना कि तुम पार्थिव और भौतिक सुख-साधनों से मेरे भीतर की सामूहिक पीड़ा के रस को सोखकर धीरे-धीरे मुझे अपने वर्ग के साथ घुला-मिला लोगी !' ('जहाज़ का पंछी', पृ. - ३८२)। लीला को वह स्वीकार भी तभी कर पाता है जब उसके वैयक्तिक चरित्र में वर्गांतरण की संभावनाओं से वह आश्वस्त हो लेता है : 'अपना सर्वस्व पीड़ितों की सेवा में अर्पित करके वह क्या उन अभागिनियों के साथ एकप्राण नहीं हो गई, उनके वर्ग के समान स्तर पर, बल्कि उससे भी नीचे नहीं उतर आई, जिनकी पीड़ा तुम्हें इतने दिन से पागल बनाती आई है ! ('जहाज़ का पंछी', पृ. - ३८५)। ग़ौर करना चाहिए कि यहाँ हृदय-परिवर्तन की नहीं, वर्ग-परिवर्तन की बात पर बल दिया गया है जो जोशी जी की रचना-दृष्टि में यथार्थवादी प्रेरणाओं के समावेश का परिचायक है।

दुर्बलता की सबल गाँठें

इलाचंद्र जोशी की एक प्रसिद्ध कहानी है– 'डायरी के नीरस पृष्ठ'। यों तो जिस संग्रह में यह संकलित है, उसका नाम जोशी जी ने खुद ही इसी कहानी के शीर्षक पर रखा था, लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि यदि जोशी जी की सारी कहानियों को संकलित करके किसी एक ही संग्रह में रखना हो तो शायद उसके लिए भी यह शीर्षक कम व्यंजक न होगा। उनकी अधिकांश कहानियाँ डायरी के ऐसे पृष्ठों की ही तरह हैं जिन पर उनके कथानायकों की दुर्बलताओं की कोई न कोई गाँठ प्रायः सिलसिलेवार दर्ज़ होती चलती है।

'डायरी के नीरस पृष्ठ' का कथानायक एक जगह कहता है : 'मैं जानता हूँ कि दुनिया मेरे पतन पर हँसती है और अत्यन्त घृणा से मेरी ओर से मुँह फिरा रही है। पर भाग्य ने मुझे जन्म का जुआरी बना रखा है। प्रकृति की गाँठ से जिस अव्यक्त आनंद को प्राप्त करने के लिए मैंने अपना सारा जीवन दाँव में लगा रखा था, उसके कारण आज सब खोये बैठा हूँ। मुझ फक्कड़ को अब लोक-लाज से क्या मतलब ?....असलबात यह है कि अब मैंने अपनी इच्छाशक्ति बिल्कुल दबा दी है। जिस बहाव में जाता हूँ, उसी में बह जाता हूँ।' यह केवल एक कहानी के नायक का आत्मालाप मात्र नहीं है। इसमें जोशी जी की अन्य अनके कहानियों के पात्रों का समवेत स्वर आसानी से सुना जा सकता है। सब जिस बहाव में जाते हैं, उसी में बह जाते हैं। कहीं समाज-विरोधी आचरण में निरत आलसी, अपाहिज, बेरोज़गार, शराबी और मित्रों से माँगकर या जेबकटी करके जीवन-यापन करने वाला नवयुवक है ('रोमांटिक छाया'), तो कहीं एक लम्पट पुरुष है जिसका व्रत ही नारियों के कौमार्य के साथ खिलवाड़ करना है ('प्रेम और घृणा')। कहीं 'नपुंसक ईर्ष्या' से ग्रस्त वह पति है जो आर्थिक लाभ और पदोन्नति के लिए खुद अपनी पत्नी को सम्पन्न व्यक्तियों से सम्पर्क बढ़ाने के लिए प्रेरित करता है लेकिन एक ग़रीब और अत्यन्त सरल स्वभाव के नवयुवक से अपनी पत्नी को दो-चार बातें करते भी देख नहीं पाता ('क्रय-विक्रय')। कहीं विवाह नाम की संस्था में घोर अनास्था रखने वाला नवयुवक है ('अपत्नीक'), तो कहीं रसिकता और कृपणता का फूहड़ संगम बना 'खूसट पति' चार-चार विवाह करता चला जाता है ('चौथे विवाह की पत्नी')। कहीं स्वजनों की क्रमिक

मृत्यु से विक्षिप्त हुआ वह व्यक्ति है जो अंततः श्मशान में रहने वाले औघड़ों के साथ तमाम वीभत्स अनुभवों से गुजरकर मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त कापालिक बन चुका है ('कापालिक'), तो कहीं वह तरुण अध्यापक है तो अपनी शादी के लिए बताई गई लड़की को देखने के लिए भावी ससुराल जा रहा था लेकिन जिसे बीच में ही स्टेशन पर ट्रेन से उतार कर हत्या के झूठे आरोप में सात साल की कड़ी कैद का दंड देकर जेल पहुँचा दिया जाता है और जब वह जेल से बाहर निकलता है तो 'लोगों से भीख माँगकर, ठगकर, जेबें काटता हुआ अपनी गुज़र करता है ('भूतों की बारात')।

ये सारे पात्र ऐसे हैं, जो परिस्थितियों द्वारा ज़िंदगी भर भटकते रहने के लिए छोड़ दिये गये हैं। उन्हें मानवीय आचरण के सामान्य दायरे में रख सकने वाली कोई धुरी नहीं मिल पाती। व्यवहारजगत् में अगर कोई भावना उन्हें कहीं बांधे भी रखती है, तो वह उनके अपने मन की भीतरी पर्तों में स्थित किसी न किसी दुर्बलता की सबल गाँठ ही होती है।

जोशी जी अपने कथाकार-रूप की सार्थकता मनुष्य-जीवन के आदर्शमय चित्रों को उकेरने में नहीं, बल्कि मनुष्य के चरित्र की यथार्थ नींव को सामने लाने में मानते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि 'यथार्थ जीवन की अंतरतम और मूलगत नींव पर अपनी कला को आधारित करने वाला कलाकार महानतम व्यक्ति की भी मानवगत दुर्बलताओं की ओर से आँखें नहीं फेर सकता, क्योंकि वह निश्चित् रूप से जानता है कि उन घोर दुर्बलताओं के मूलाधार की मिट्टी पर ही उसकी महत्ता प्रतिष्ठित है' ('साहित्य-चिंतन', पृ. ९५)। इसलिए वे बल इस बात पर देते हैं कि व्यक्ति की दुर्बलताओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने की कोशिश की जाए—तलाशा जाए कि कहाँ है उनकी सबल गाँठें ! व्यक्ति की दुर्बलताओं को समझना ज़िंदगी की ज़द्दोजहद को समझना है, जो मनुष्य को ज़्यादा सही ढंग से पहचानने में काम आता है और इस सतही हरकत से हमें रोकता है कि मनुष्य की दुर्बलताओं को हम मात्र जग-हँसाई या सामाजिक घृणा का विषय बनते देखने में रस लेते रहें। कथाकार के रूप में जोशी जी मनुष्य-जीवन के प्रति अपने दायित्व-बोध को इसी बिंदु पर समंजित करते हैं और यहीं से उन्हें यह ताक़त मिलती है कि ताल ठोककर वे अपने आलोचकों के आक्षेपों का जवाब देते हुए कह पाते हैं कि 'मेरे अधिकांश चरित-नायक निश्चित रूप से दुर्बल-स्वभाव हैं और यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है !' ('साहित्य-चिंतन', पृ. -९३)।

जोशी जी यह भी कहते हैं कि 'मैंने जानबूझकर दुर्बल नायकों को चुना है !' यानी उनकी माँग है कि पात्रों के चुनाव में उनकी चेष्टागत सचेतनता ख़ासतौर से रेखांकित की जानी चाहिए। ऊपर-ऊपर से देखने पर ऐसा लग सकता है कि पात्रों की आचरणगत एकरूपता जोशी जी के रचना-संसार को सीमित और एकरस करती है। लेकिन सावधानी से परखने पर पता चलता है कि पात्रों की एकरूपता के बावजूद उनकी कहानियों के कथ्यगत वैविध्य पर आँच नहीं आने पाती। यहाँ तक कि अगर उनकी किन्हीं दो कहानियों में लगभग एक-से पात्र एक-सी लाचारियों में फँसे और एक-ही-सी अंतर्वृत्तियों से परिचालित दिखते हैं, तो भी उनमें संवेदनागत दोहराव नहीं होने पाता। उदाहरण के लिए, 'सीटी बजती रही' शीर्षक कहानी की नीमा और 'डाक्टर की फ़ीस' नामक कहानी की जमुना में बहुत फ़र्क़ नहीं है। नीमा को एक युवक अपने रोमांस के चक्कर में फाँसकर चकले में ले आता है और फिर अंततः उसे शरीर का व्यापार करने के लिए विवश कर देता है। नीमा एक बच्ची की माँ है लेकिन जब जब उसके हृदय में अपनी 'मुन्नी' के प्रति ममता उमड़ती है, तो उसे अपने प्रेमी से यही सुनने को मिलता है—"भाड़ में जाय तुम्हारी मुन्नी !' जमुना भी एक बच्ची की माँ है। वह अपनी बीमार बच्ची के इलाज के लिए शरीर बेचकर जो पैसा जुटाती है, वह शराब पीने के लिए उससे छीन लिया जाता है। नीमा और जमुना की इस एकरूपता के बावजूद कहानीकार दोनों की नियति की व्याख्या एक ही ढंग से नहीं करता। वह दोनों की कहानियों को अलग-अलग मोड़ों से गुज़रता दिखाकर विडम्बना की दो भिन्न-भिन्न परिणतियों से हमारा परिचय कराता है। नीमा की कहानी में हम विद्रोह को झंकृत होता पाते हैं और जमुना की कहानी में विवशता को !

जोशी जी को यह ख़याल बराबर बना रहता है कि 'समाज के अलग-अलग स्तरों के अलग-अलग रंग होते हैं।' इसलिए वे 'भरसक उन रंगों की विभिन्नता को सुस्पष्ट करने का प्रयास' करते हैं। ऐसा करने में यथार्थ के किसी भी पहलू को चित्रित करने से वे कतराते नहीं हैं, फिर चाहे वे पहलू 'वीभत्स या आतंकोत्पादक' ही क्यों न लगें ! इसी प्रयास के प्रति अपनी अटूट लगन के कारण उन्हें विश्वास रहता है कि उनकी कहानियों में पाठक 'आतंकप्रद विभाषिका (हॉरर) भी पाएंगे, यथार्थवादी रहस्यात्मकता (रियलिस्टिक मिस्टिक एलीमेंट) की भी कोई कमी उन्हें नहीं मिलेगी और रोचकता तथा रोमांचकता तो भरपूर पाएंगे ही !' ('मेरी प्रिय कहानियाँ', भूमिका)। निश्चय ही जोशी जी के इस विश्वास को मिथ्या न सिद्ध होने देने में उनकी कई कहानियाँ योग देती हैं।

'कापालिक', 'भूतों की बारात', 'प्रतिशोध' जैसी कहानियाँ 'आतंकप्रद विभीषिका' के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं। 'प्लैनचेट' में रहस्यात्मकता का पुट मानो एक ख़मीर की तरह काम करता है और यथार्थ की अभिव्यक्ति को आस्वाद के अनूठे स्तर पर ले आता है। यद्यपि यह बात भी है कि जोशी जी का लेखन अक्सर एक ख़ास तरह के 'मैनरिज़्म' से जकड़ा रहता है, जिसके कारण उनकी कहानियाँ बहुत बार 'गढ़ी हुई-सी' लगती हैं। बल्कि, जिस तरह उन्होंने 'चौथे विवाह की पत्नी' ('मेरी प्रिय कहानियाँ') नामक अपनी कहानी को बाद में संशोधित और किंचित् संक्षिप्त करके दोबारा 'मोह' ('भूतों की बारात') शीर्षक से प्रस्तुत किया, उससे ऐसा भी लगता है कि उन्हें स्वयं भी अपनी कुछ कहानियों में गढ़े हुए-पन की प्रतीति होती रहती थी। लेकिन 'गढ़ने' की कला में चूंकि वे मनोवैज्ञानिक आधारों को कहीं भी खिसकने नहीं देते, इसलिए कथ्य कितना ही कृत्रिम हो, विश्वसनीयता के साथ किसी न किसी तरह उसका निर्वाह हो ही जाता है। इस तथ्य के सम्यक् आकलन के लिए उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कहानियों से गुज़रना उपयोगी होगा।

'दुष्कर्मी' में टंडन जी के यहाँ आया एक सर्वथा अपरिचित व्यक्ति अपने जीवन की कहानी सुना रहा है। शुरू में ही वह अपने अनुभव का निचोड़ इन शब्दों में रख देता है : 'दुष्कर्म आख़िर दुष्कर्म ही है। फिर भी अगर आप सब प्रकार के दुष्कर्मों को एक ही श्रेणी के भीतर समेट लें और सबका मूल कारण नैतिक मनोवृत्ति का अधःपतन समझ लें तो मैं आपकी इस बात से कदापि सहमत नहीं हो सकता। उन्नत मानसिक वृत्तियों का आवश्यकता से अधिक अनुशीलन करने के कारण भी अक्सर मनुष्य को दुष्कर्म करते देखा गया है।' कहना अनुचित न होगा कि पूरी कहानी इसी अनुभव के पक्ष में प्रमाण जुटाने के लिए गढ़ दी गई है। लेखक मानो कहना चाह रहा हो, 'यही सिद्ध करना था !'

रहस्यमय 'दुष्कर्मी' की रामकहानी के कई पड़ाव हैं। लड़कपन में 'स्त्री को उसके उन्नततम रूप से देखने, उसकी पूर्णता पवित्रता पर विश्वास करने की प्रवृत्ति' को वह अपनी रग-रग में समाया हुआ पाता है। लेकिन युवावस्था के प्रथम चरण तक पहुँचते-पहुँचते उसकी मनोदशा कुछ ऐसी हो जाती है कि स्त्री के सौंदर्य में लेशमात्र भी आकर्षण वह महसूस नहीं कर पाता। किसी रूपवती रमणी पर जब भी उसकी नज़र पड़ती तो उसकी अंतरात्मा तत्काल सचेत होकर उसे सावधान करते हुए कहने लगती—'इस रूप के भीतर क्षय के कीटाणु भरे हैं !' फिर उसकी इस 'आच्छन्न मानसिक अवस्था' को एक दिन अकस्मात् ऐसा धक्का लगा कि उसमें मूलतः परिवर्तन हो गया।

सरला नाम की एक तेरह वर्षीया बालिका का गायन उसे इतना आत्म-विभोर कर गया कि उसके सामने 'अनंत जीवन की स्निग्ध ज्योति जगमगाने लगी।' लेकिन कुछ ही दिनों बाद सरला के भी क्षयग्रस्त होकर चल बसने पर 'विभीषिकामय विचारों के पारस्परिक संघर्ष' ने उसकी मानसिक अवस्था को अत्यन्त विकृत बना डाला। अंततः वह पतन के गर्त में गिरता चला गया। 'दुष्कर्मी' के जीवन के इन सभी पड़ावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पाठकों को इस सत्य का साक्षी बनाता है कि 'आदमी अच्छा होने पर भी किस हद तक अपराधी की मनोवृत्ति को अपना सकता है।'

इसी सत्य को चरितार्थ करता है जोशी जी का एक और कथानायक—'बदला' कहानी का जैन भइया ! प्रथम महायुद्ध जब छिड़ा तो वह बीस वर्ष का था। 'लेबर कोर' में भरती होकर लड़ाई में चला गया। उसी दौर के, अपनी फ्रांस-यात्रा के दिन उसे कभी भूलते नहीं। मार्सेल का बंदरगाह ! कैसे खूबसूरत लेकिन अत्यन्त त्रासद जाल में वह एकाएक वहाँ फँस गया था। अद्भुत सुंदरी, सत्रह-अठारह वर्षीया एक वेश्या से केवल एक बार का मिलन-सुख और जिंदगी भर के लिए एक भयानक यौन-रोग का उपहार—दोनों एक साथ उसे मिल गये।

कहानी के वाचक को वही 'जैन भइया' अरसे बाद बाबू के यहाँ चूल्हा फूँकने का काम करता मिल जाता है। 'पैसा कमाने की थोड़ी बुद्धि उसमें भी है।' घर में माँ है, बच्चे हैं, भाई है—उन सबका ध्यान उसे रखना पड़ता है। ख़ासकर बूढ़ी माँ का। अपने अस्थिर स्वभाव के कारण जैन भइया कहानी में प्रायः सर्वत्र उपहास का ही पात्र बनता दिखाया जाता है लेकिन मन उसके प्रति उमड़ पड़ता है, जब हम उसके मुँह से यह वाक्य सुनते हैं—'दुनिया में सब कुछ फिर से मिल जाता है, पर माँ नहीं मिल सकती भइया !' उसी साँस में वह अपना अगला वाक्य भी पूरा करता है—'आहा, माँ ! मैं कैसा बेवक़ूफ़ था जो इतने दिनों तक उसे भूलकर उस चुड़ैल के पीछे अपना सब कुछ नष्ट करता रहा !'

सुनने वाले को यहाँ एक झटका लगता है—'कौन चुड़ैल ?' पता चलता है, वह चुड़ैल कोई और नहीं, खुद उसकी अपनी ही घरवाली थी। जिसने उसकी बीमारी पर भी रहम नहीं किया और उसकी सारी कमाई अपने भाइयों और अपने गहनों पर खर्च कर दी। लेकिन जैन भइया के पास फिर भी संतोष की साँस ले सकने का एक बहाना तो है ही। अपनी घोर स्वार्थी स्त्री से बदला वह ले चुका है। ऐसा बदला कि 'जिंदगी भर वह याद करेगी !' जो राजरोग (सिफ़लिस) वह लड़ाई से लाया था,

'उसका विष उसके शरीर में भी फैल गया है !'

'दुष्कर्मी' और 'बदला', इन दोनों कहानियों के घटनात्मक वृत्त की मनोवैज्ञानिक तहों में जाएँ तो अंतर्धारा के तौर पर क्षतिपूरक संवेग का प्रतिक्रियाजन्य स्वरूप (मेंटल मिकैनिज़्म) लगभग एक-सा व्याप्त मिलेगा। स्थितियों ने सामान्य स्वभावगत स्थिरता के लिए अपेक्षित आधार न 'दुष्कर्मी' के नायक को सुलभ होने दिये हैं, न 'बदला' के नायक को। दोनों ही वंचना के शिकार हैं। दोनों से लगातार जो कुछ छीना जाता रहा है, उसकी मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए दोनों ही जाने-अनजाने प्रतिशोधात्मक वृत्ति के हो जाते हैं। लेकिन चरित्र-चित्रण और घटनात्मकता के जिन बिंदुओं के सहारे कहानीकार अपने इन दोनों कथानायकों को अलग-अलग व्यक्तित्व देता है, उनमें जोशीजी की कहानी-कला के गुण और दोष, दोनों के कुछ महत्वपूर्ण संकेत छिपे हैं।

'दुष्कर्मी' के नायक का व्यक्तित्व जोशी जी किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से घट रही अप्रत्याशित घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में आरेखित करते चले जाते हैं। मनःस्थिति का चित्रण वहाँ आदतन होता तो चलता है लेकिन जोशीजी यह देख लेने की ज्यादा ज़रूरत नहीं समझते कि घटनाएँ मनःस्थिति की व्यंजना में खुद कितना योग दे पा रही हैं। कहीं अगर वे थोड़ा-बहुत मुड़कर पीछे देखते भी हैं तो महज़ मनोविश्लेषण का कोई छूट गया सूत्र पकड़ने की नीयत से। इसीलिए 'दुष्कर्मी' अधिक सफल कहानी नहीं बन पाती।

'बदला' के नायक का व्यक्तित्व कहानीकार जिन रेखाओं से उभारता है, वे विभिन्न परिस्थितियों और मनःस्थितियों की उभयस्पर्शी रेखाएँ होती हैं। इसीलिए मनःस्थिति की व्याख्या के लिए कहानीकार को कहानी के बीच कहीं भी खुद उपस्थित होकर हस्तक्षेप करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। साथ ही यह मजबूरी भी नहीं रहती कि लेखक द्वारा कहानी के पाठकों को अपने पात्र से परिचित कराने की सारी औपचारिकता खुद पूरी कर लेने के बाद भी, पात्र को अंततः रहस्यमय और अपरिचित ही बना रहने के लिए छोड़ दिया जाए—'दुष्कर्मी' के नायक की तरह !

एक और खूबी भी 'बदला' कहानी में ध्यान देने योग्य है। 'जैन भइया' को 'विचित्र ख़ामख़यालियों से भरा सनकी स्वभाव' वाला बताकर उसे आस-पास के लोगों से और खुद अपने से भी छेड़छाड़ करते रहने की जो छूट कहानीकार देता है, उसके कारण कहानी का वातावरण अनावश्यक रूप से बोझिल होने से बच जाता है। 'दुष्कर्मी' का नायक समाज के नैतिकता-बोध पर प्रश्न-चिन्ह् भले ही लगा ले, लेकिन उसकी खिल्ली उड़ाते हुए बेपरवाह अंदाज़ में उसे उस तरह अंगूठा नहीं दिखा पाता जिस तरह 'बदला' का नायक

दिखा लेता है। 'दुष्कर्मी' में नायक की मनः स्थिति और प्रकृति चाहे कितनी ही अस्थिर दिखाई गई हो लेकिन एक तनी हुई-सी गंभीरता वहाँ आद्योपांत स्थिर रहती है। 'बदला' का जैन भइया दूसरों पर भी हँस लेता है और खुद अपने पर भी। वह बेहूदी गालियाँ भी बक सकता है। और मज़ा यह कि उसकी गालियों को भी कोई गंभीरता से नहीं लेता। वह जिसे गालियां देता है, उसी के यहाँ नौकरी भी पा सकता है। आत्म-भर्त्सना का यह स्वर भी उसके श्री-मुख से सुन लीजिए–'एक मैं भी हूँ कि दूसरों का चूल्हा फूँक-फूँककर अपनी ज़िंदगी बरबाद कर रहा हूँ' और आत्म-गौरव का यह स्वर भी–'चूल्हा फूँकता हूँ तो इससे क्या ? पैसा कमाने की थोड़ी बुद्धि मैं भी रखता हूँ !' जैन भइया के स्वभावगत और आचरणगत विचलन कहानी में इस तरह उभरते चलते हैं कि करुणा और हास की मिली-जुली झिलमिलाहट मनोविज्ञान की किसी शास्त्रीय व्याख्या की मोहताज नहीं रह जाती। कहानी के अंत में अपने जिस अट्टहास से जैन भइया 'शैतान के दुर्ग की चहार-दीवारी को भेदता हुआ' हमें एकाएक आतंकित कर देता है, उस अट्टहास की भीतरी सतहें इतनी पिघली हुई हैं कि जैन भइया के जटिल चरित्र की शिराओं में यहाँ-वहाँ बहती दिख ही जाती हैं।

'दुष्कर्मी' और 'बदला' की अंतर्वस्तु के सन्दर्भ में क्षतिपूरक प्रतिक्रिया के तौर पर प्रतिशोध के संवेग की थोड़ी चर्चा हम ऊपर कर आए हैं। जोशी जी की कहानियों में इस संवेग की अभिव्यक्ति के स्वरूप पर कुछ अधिक विस्तार से विचार अपेक्षित है। क्योंकि जोशी जी ने इस संवेग को किसी न किसी रूप में अन्तर्वस्तु का अंग या मुख्य विषय बनाते हुए कई अन्य कहानियाँ भी लिखी हैं। जैसे 'पागल की सफ़ाई' और 'आहुति'। एक अन्य कहानी का तो शीर्षक ही है 'प्रतिशोध'।

किसी भी संवेग की जीवन्त अभिव्यक़्ति के लिए प्राथमिक शर्त यह होती है कि उसके आलंबन को रचनाकार अधिकाधिक मूर्त करने की चेष्टा करे। 'बदला' कहानी में हम यह देख चुके हैं कि उसके नायक को यह बोध है कि वह किससे प्रतिशोध ले रहा है और किस तरह; जबकि 'दुष्कर्मी' के नायक के बोध में यह स्पष्ट नहीं है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'बदला' यथार्थ को संविदना के जितने मूर्त आयामों से घेरती है, 'दुष्कर्मी' नहीं घेर पाती। लेकिन एक प्रश्न यहाँ फिर भी रह जाता है। जिस तरह का बदला लेकर जैन भइया अपने आपको बहला या भुला लेता है, क्या वह उसकी आत्म-तुष्टि का निहायत निजबद्ध ढंग नहीं है ? उसके चरित्र की शाखाओं-प्रशाखाओं में बेशक जोशी जी एकाध जगह ऐसी क़लम लगाने की चेष्टा करते हैं जिससे कि उसका

व्यक्तित्व आत्मरति से बाहर भी फैलता-फूटता दिखाई पड़ सके। उदाहरण के लिए, मोतीलाल नेहरू के आने की खबर लगते ही चाय-तमाखू के इंतज़ाम की परवाह छोड़कर जैन भइया का सीधे आनंद-भवन के फाटक पर जा पहुँचना और फिर लौटकर सारा वर्णन करते हुए कभी फ़ील्ड मार्शल बर्डवुड की बात करना और कभी 'देश की दुर्दशा पर लेक्चर बघारते' चले जाना—एक ऐसा ही प्रसंग है। लेकिन इस प्रकार के प्रसंगों की क़लम अपनी कहानियों में यत्र-तत्र लगाने के बाद उसे पोषित करने के लिए जिस प्रत्यक्ष अनुभव की आवश्यकता रहती है, जोशी जी के यहाँ अक्सर उसी की कमी पड़ जाती है।

'पागल की सफ़ाई' के 'नारायन भइया' से मिलिए। करुणा और हास की, वेदना और विनोद की झिलमिलाहट वाली चार्ली चैप्लिन की-सी भंगिमा में ये भी 'जैन भइया' से कम नहीं हैं। लेकिन इनमें मध्यवर्गीय आत्म-सजगता ज़्यादा है। ये खुद बताते हैं : 'मैं स्वभाव से ही विद्रोही प्रकृति का आदमी रहा हूँ। समाज के भीतर किसी भी प्रकार का भ्रष्टाचार या शोषण देखकर मेरे सिर में बराबर दर्द उठता रहता है। पर साथ ही मेरे स्वभाव में एक दूसरी भी विशेषता है। मैं चाहे किसी से कितना ही रुष्ट क्यों न होऊँ पर कभी किसी को सक्रिय रूप में कोई भौतिक हानि पहुँचाने में मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है !' नारायन भइया द्वारा जानबूझ कर ओढ़ा गया पागलपन कहानी में एक ऐसे माध्यम की तरह चित्रित किया गया है जिसके द्वारा एक ओर ये स्वयं अपनी असमर्थता से बदला लेते रहने का उपाय करते हैं, दूसरी ओर समाज की छाती में 'घुन की तरह घुसे हुए और जोंक की तरह चिपके हुए' बेईमानों की समर्थता से भी बदला लेने का मुक्त उपक्रम कर लेते हैं। इनका बनावटी पागलपन इन्हें छुट्टी दिला देता है कि 'घर के लोग' इनसे 'किसी प्रकार की आशा न रक्खें' और यह छूट भी इन्हें मिल जाती है कि 'पागलपन की आड़' में समाज के उन भ्रष्टाचारियों को 'खुलकर गालियाँ' दे सकें जिन्हें सामान्य अवस्था में 'झूठे शिष्टाचारवश' कुछ कह नहीं पाते थे।

ऐसा लगता है कि 'पागल की सफ़ाई' में कहानीकार जोशी नारायन भइया के भीतर प्रतिशोध के संवेग को कुछ इस तरह उद्वेलित होने देना चाहते हैं, जिससे वह नारायण भइया की दुर्बलता की गाँठ का महज़ वैयक्तिक स्राव बनकर न रह जाए। रचनात्मकता के तक़ाज़े की यह एक सार्थक अभीप्सा है। एक माने में यह पूरी भी होती है। कहानी के अंत में जहाँ नारायन भइया विस्तृत आत्मविश्लेषण करते हैं, वहाँ उनका अपना आत्म-विश्लेषण एक प्रवृत्ति-विशेष का वर्गीय विश्लेषण भी होता चलता है। विद्रोह का यथार्थ नहीं, बल्कि विद्रोह का आभास देने वाला व्यवहार मध्यवर्गीय-जीवन में अक्सर देखा

जाता है। नारायन भइया कहते हैं, "मेरा विद्रोह काल्पनिक रूप धारण करके रह जाता है और मन की बात मन ही में टकराकर रह जाती है। आग लगाने की जो प्रवृत्ति मेरे भीतर जग उठी है, वह शायद उसी विद्रोह की काल्पनिकता का बाहरी प्रतीक है।" व्यवहार में विद्रोह का काल्पनिक प्रतीकीकरण—यही है वह असली पागलपन जिसके लिए कोई 'तगड़ी सफ़ाई' नारायन भइया के पास भी नहीं है। मध्यवर्गीय चेतना का अहम् कितना भी विद्रोही हो, लेकिन अनजाने में ऐसे ही पागलपन से ग्रस्त होकर वह आग से केवल खेलता रहता है, आग लगा नहीं पाता ! नारायन भइया का चरित्र इस विसंगति को व्यंग्य के केंद्र में ले आता है। यह व्यंग्य और भी नुकीला हो सकता था यदि कहानीकार ने नारायन भइया की स्वभावगत अराजकता का उपयोग करने से पहले मध्यवर्गीय संस्कारों की कुछ अधिक गहरी समझदारी प्राप्त कर ली होती।

यह सच है कि विद्रोह की रोमानी संकल्पना अक्सर वैयक्तिक अराजकता में फलीभूत होती है, जैसा कि जोशी जी ने अपने उपन्यास 'निर्वासित' के नायक महीप के चरित्र में भी दर्शाया है। लेकिन यह भी अनुभव-प्रत्यक्ष है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति प्रायः अपने पारिवारिक दायित्वों को इतनी प्राथमिकता देता है कि इसी कारण वह विद्रोह की वास्तविक चेष्टा का कोई भी जोखिम उठाने से कतरा जाता है। नारायण भइया के चरित्र को जो स्वरूप कहानीकार ने दिया है, उसमें यह मजबूरी भी कहीं बहुत उभर कर नहीं आती दिखती। इसीलिए उनकी अराजकता मध्यवर्गीय संस्कारों का संश्लिष्ट चित्र नहीं दे पाती। वह विशृंखलित होकर यहाँ-वहाँ बिखर जाती है।

फिर भी 'पागल की सफ़ाई' का व्यंग्य नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता है। यह व्यक्ति-मन की कुंठा-जनित प्रतिक्रिया बनकर नहीं, व्यक्ति-मन के आक्रोश की अभिव्यक्ति बनकर चोट करता है। नारायन भइया के मुँह से सुने गये कुछ चुटीले संवादों से भी यह बात प्रमाणित होती है। कैसी बेलाग ज़बान है उनकी, देखिये—'साले, जा ! जा और कुछ दे मत ! अगले जन्म में अगर तू इम्पीरियल बैंक का चूहा बनकर पैदा न हुआ तो जितने की चाहे, बाजी बद ले !' अगर हम इस पागल की तुलना जोशी जी की एक अन्य कहानी 'विद्रोही' के अस्थिर-चित्त आवारा से करें, तो यह विशेषता और अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

'विद्रोही' में जोशी जी एक ऐसे हरफ़नमौला व्यक्ति से हमारी मुलाक़ात कराते हैं, जो किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो पाता। लोगों से पैसा माँगकर शराब पीना और वेश्यागमन करना, धनपतियों के यहाँ नौकरी करते हुए उनका धन बरबाद करना और उनके पुत्रों को कुमार्गगामी बनाना—ये सब उसके शगल हैं। इसी प्रकार इस कहानी की

'राधा' भी अपनी दमित महत्वाकांक्षाओं को विकृत रूप से तुष्ट करने वाली स्त्री है। उसने इतना धन अर्जित कर लिया है कि तीन पुश्तें आराम से गुज़र कर सकती हैं। सद्‌विचार-संपन्न भी वह है, लेकिन फिर भी वह अपने पेशे का परित्याग नहीं करती और एक राजा की अस्थायी प्रेमिका बन जाती है। क्योंकि अपने कल्पना-लोक में वह खुद को रानी समझने के लिए आकुल है। राजा की प्रेमिका होने में वह रानी होने से कम सुख नहीं पाती। 'विद्रोही' के इन दोनों पात्रों में व्यक्तिमन की कुंठाएँ ही उजागर होती हैं, प्रतिकूल स्थितियों के प्रति उनका आक्रोश नहीं। इसीलिए यह कहानी एक कथाकार की रचना होने से ज़्यादा एक मनश्चिकित्सक की फ़ाइल में दर्ज़ रुग्णता-वृत्त (केस-हिस्ट्री) बनकर रह जाती है।

जोशी जी ने अपनी कुछ कहानियों में प्रतिशोध और प्रतिहिंसा के संवेगों को हृदय-परिवर्तनवादी स्पर्श देकर उदात्तीकृत करने की चेष्टा भी की है। 'आहुति' और 'प्रतिशोध' शीर्षक कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। हृदय-परिवर्तन के सिलसिले में प्रेमचंद की कई रचनाओं का जिक्र प्रायः किया जाता है। लेकिन जोशी जी के चरितनायकों में घटित होने वाले हृदय-परिवर्तन का अपना रंग अलग है। क्योंकि जोशी जी का आग्रहपूर्ण मनोविश्लेषणात्मक सलूक उसे प्रेमचंद की तरह सहजतया नहीं, बल्कि सजगतया चित्रित होने देना चाहता है।

'प्रतिशोध' में विभाजन के दौरान लाहौर से विस्थापित होकर दिल्ली आ बसे एक शरणार्थी के जीवन की मर्मस्पर्शी कहानी है। दंगे-फ़साद की भयंकरता और लाहौर के एक उजाड़ घर में पड़े मिले अनाथ 'दुधमुँहे बच्चे' के दुर्निवार आकर्षण का वह फल, बीस साल लम्बा अरसा गुज़र जाने पर भी संपतराम के हृदय में टीस रहा है। 'जीत' वही दूधमुँहा बच्चा है, जो अब बी.ए. में पढ़ रहा 'सयाना नवयुवक' बन चुका है। उसके पवित्र और निश्छल वात्सल्य में डूबे 'नोन-तेल बेचने वाले' संपतराम और उनकी पत्नी को अब तो यह याद भी नहीं रह गया है कि जीत उनका असली बेटा नहीं है। लेकिन इसी बीच असलियत को ग़लत स्रोतों से जानकर जीत बहक जाता है। वह सोचने लगता है कि जिसे वह 'पाइया' (पिता) कहकर अब तक पुकारता रहा, 'वह नोन-तेल बेचने वाला पगड़ीधारी ' बुड्ढा (संपतराम) उसका बाप नहीं है, वह 'उसे उसकी असली माँ की गोद से छीनकर भगा ले आने वाला लुटेरा है !' 'जब तक यह बुड्ढा जीवित है, तब तक मेरे जीवन का कलंकपूर्ण इतिहास एक अक्षर भी नहीं मिटने वाला'– सहसा यह विचार 'बिजली की तरह उसके मस्तिष्क में कौंधने लगता है। वह एक रात संपतराम पर चाकू

से वार करना चाहता है। लेकिन अंततः संपत का निश्छल वात्सल्य उस उत्तेजित युवक को पुनः अपने 'पाइया' के प्यारे 'काकू' में बदल देता है।

'प्रतिशोध' को पढ़कर यह बात सचमुच बहुत आश्चर्यजनक लगती है कि देश के विभाजन पर लिखी गई महत्त्वपूर्ण कहानियों के बीच इसकी गणना क्यों नहीं की जा सकी। इस कहानी की बुनावट इतनी गझिन है कि घटनात्मकता के गढ़े हुए मोड़, जो जोशी जी की कथावस्तु में सामान्यतया देखे जाते हैं, यहाँ जगह ही नहीं बना पाते। साथ ही संवेदना इतनी घनीभूत है कि उस इतिवृत्तात्मकता से भी जोशी जी यहाँ बच जाते हैं, जो उनकी अधिकांश कहानियों को स्थूल वर्णनात्मकता से लैस करने को अक्सर ही आमादा रहती है। जोशी जी की कथा-भाषा अपने उत्कृष्टतम तेवर में कितनी संवेदनशील हो सकती है, इसकी पहचान इस कहानी के अनेक स्थल हमें कराते हैं। हिंसा और ध्वंस के क्रूर से क्रूर अंधेरे में जिजीविषा के दुर्निवार आकर्षण को व्यंजित करने वाला एक अंश यहाँ द्रष्टव्य है :

'संपत देख रहा था। उस भोले और प्यारे बच्चे के लिए अंतहीन कुतूहल के आनंद से भरा असीम विश्व का अमित विस्तार पड़ा हुआ था। लोग क्यों घृणा से एक दूसरे का सफ़ाया करने के इरादे से खून की नदियाँ बहा रहे हैं ! क्यों इसकी माँ ग़ायब है ! क्यों सारे घर का सफ़ाया हो गया है ! अकेला वही जीता बच गया है – शेष सब या तो मर गये हैं, या अंतिम साँसें गिन रहे हैं, या सदा के लिए इस घर को छोड़ने के लिए विवश होकर संसार की किसी अनचीन्ही वीरानी में खोने के लिए गये हैं ! सारी की सारी बातों से बेखबर वह मासूम बच्चा नींद भर सोकर और पेट-भर दूध पीकर अपने को विश्वभर के आनंद का एकमात्र उत्तराधिकारी और सारे संसार का एकमात्र दुलारा समझ रहा है !'

दंगे और आगज़नी के बीच एक उजड़े घर में अकेले असहाय पड़े दुधमुँहे बच्चे को संपत की आंखों से इस तरह देखना एक बहुत ही मर्मस्पर्शी अनुभव है।

'आहुति' शीर्षक कहानी में प्रतिहिंसात्मक वृत्तियों की उमड़न को हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया के तहत लाने के लिए जोशी जी स्त्री के प्रेयसी रूप की स्वस्थ प्रेरकता का उपयोग करते हैं। 'आहुति' के श्यामनाथ को देखकर ऐसा लगता है जैसे 'सारे संसार के प्रति एक भयंकर प्रतिहिंसा उसके मन के भीतर गहराई में जड़ें जमाए हुए है। धनी प्रतीत होने वाले लोगों की जेबें काटते हुए भी उसे कोई ग्लानि नहीं होती। बल्कि 'समय समय पर उन लोगों की गाँठ काटकर मन ही मन अपने को निर्धन और दलितों का स्वयंसिद्ध

प्रतिनिधि समझकर' वह खुश हो लेता है। वह अपनी गरीबी को दूर करने के उद्देश्य से जेबें नहीं काटता। किसी की गिरह काटकर वह इधर-उधर पैसों को लुटा देता है और अपने उपयोग में उसे नहीं के बराबर लाता है। किसी जेब से तिड़ी किये गये बटुए की राशि से 'मार्था' के लिए जो साड़ी उसने खरीदी है, वह तो अपवाद है। पर मार्था के दृढ़ चरित्र के सामने वह कुछ भी उससे छिपा नहीं पाता। यों, मार्था भी किसी कदर कम अत्याचार पीड़ित नहीं है। पर मार्था ने अपने विद्रोह को 'विकृत रूप में प्रस्फुटित नहीं होने दिया है।' वह अंततः श्यामनाथ से भी यह संकल्प कराने में सफल होती है कि वह भी 'अपने विद्रोह को संकीर्ण और विकृत रूप न देकर सामूहिक और व्यापक कल्याणकारी रूप देने के लिए' कटिबद्ध हो जाएगा। इस तरह इस कहानी में सुधारवादी स्वर भी बहुत स्पष्ट सुना जा सकता है।

'आहुति' में पुरुष को उद्बोधित करने वाली नारी को जो दृढ़ आत्मविश्वास प्राप्त है, वह जोशी के कथा-जगत् में आए अन्य नारी-पात्रों को जल्दी सुलभ नहीं हो पाता। पुरुष-प्रधान सामाजिक संरचना में नारी की असमर्थता या विवशता के चित्र ही उनकी कहानियों में ज्यादा मिलते हैं। इस संबंध में चर्चा के लिए, उदाहरण के तौर पर उनकी दो कहानियाँ हम यहाँ चुनते हैं—'प्लैनचेट' और 'चौथे विवाह की पत्नी।'

'प्लैनचेट' के लाला शंकर दयाल शहर के प्रसिद्ध वकील हैं। हाल ही में इनकी पत्नी ब्रजेश्वरी का निधन हुआ है। उसके विछोह में ये बेहाल हैं। 'जब तक पत्नी जीवित रही—उसके संबंध की किसी बात को लेकर विशेष चिंतित नहीं रहे और उसके अस्तित्व के संबंध में भी एक प्रकार से उदासीन ही रहे।' लेकिन अब वे खुद के बनाये प्लैनचेट के ज़रिये अपनी पत्नी की 'परलोकगामी आत्मा' का साक्षात्कार करने को विकल हैं। एक रात 'छायामूर्ति' के रूप में उन्हें ब्रजेश्वरी दिखती है, जो प्लैनचेट के नीचे रखे कागजों पर कुछ लिखकर अदृश्य हो जाती है। शंकरदयाल लपककर कागज़ उठा लेते हैं। ज्यों-ज्यों पढ़ते जाते हैं, अपने विवाहित जीवन के बारे में भूले-बिसरे रहस्यों का तीखा पुनर्विश्लेषण करने को विवश होते जाते हैं। यह कहानी अपने शिल्प में फैंटेसी के एक रहस्यपूर्ण जाल-सी प्रतीत होती है। लेकिन यह जाल जिस अनुभव को पकड़ने के लिए फैलाया गया है, वह हमारे पुरुष-सत्तात्मक समाज में वैवाहिक जीवन का विडम्बनापूर्ण यथार्थ है। पति की उदासीनता पत्नी की सहनशीलता में घुलकर कितनी ही अदृश्य हो जाये, लेकिन पत्नी के भीतर छिपे संवेदनशील नारी-हृदय में वह नितान्त प्रतिक्रियाशून्य होकर नहीं रह सकती।

'चौथे विवाह की पत्नी' (जो अन्यत्र किंचित् संशोधित रूप में 'मोह' नाम से भी

छपी) में भी इसी यथार्थ का एक दूसरा पहलू है। 'प्लैनचेट' की ब्रजेश्वरी यहाँ मानों भिन्न परिस्थितियों में रामेश्वरी बनकर अवतरित होती है। अपनी अदम्य प्रणयाकांक्षा में वैसी ही अतृप्त। हालांकि पति की उदासीनता का रूप यहाँ कुछ भिन्न है। उदासीनता यहाँ महज़ उदासीनता नहीं रहती, सचेतन उपेक्षा में बदल जाती है। उसकी प्रतिक्रिया भी यहाँ भिन्न है। रामेश्वरी के पति महोदय 'तीन-तीन पत्नियों को जीवन के उस पार पहुँचा चुके हैं, पर अभी तक हैं जवान और साथ ही बड़े धनी भी।' मगर कंजूस इतने है कि 'एक बार उनके एक सनकी मित्र ने इस शर्त पर उन्हें रुपया देना स्वीकार किया कि वह उसका जूता उठाकर पाँच मिनट तक अपने सिर पर रखे रहें। उन्होंने शौक से ऐसा किया और बाद में सिर में लगी गर्द झाड़कर रुपया बजाकर जेब में रख लिया।' ऐसा पति अगर अपनी पत्नी की तुलना में पैसे को तरजीह दे तो स्वाभाविक ही है। पति की उपेक्षा रामेश्वरी के मन में आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति पैदा करती है। और आखिर में पति की मृत्यु के बाद उन्मादग्रस्तता की अवस्था में नित्य-प्रति का उसका एक ही कार्यक्रम रह जाता है – रुपये की थैलियों को खोलने, गिनने और फिर बंद करने की प्रक्रिया को लगातार दोहराते रहना।

पुरुष-सत्तात्मक समाज-व्यवस्था में नारी की असमर्थता और उसकी जद्दोजहद को कहानी की केंद्रीय संवेदना का अंग बनाना कई आधुनिक कहानीकारों को सामान्यतया अभीष्ट रहा है। बल्कि जोशी जी के प्रति क़तई कोई अन्याय न होगा यदि हम यह भी मान ले कि कुछेक दूसरे कहानीकारों ने जोशी जी की अपेक्षा कहीं ज्यादा अनुभूति-प्रवणता और कलात्मक निपुणता के साथ नारी-जीवन की त्रासदी को प्रस्तुत किया है। लेकिन फिर भी इस क्षेत्र में जोशी जी की अपनी विशेषता अक्षुण्ण है। वह विशेषता यह है कि नारी की हर असमर्थता को वे एक उपचारोन्मुख नज़रिये से देखते हैं। इसीलिए वे नारी-मन की गाँठों पर देर तक रोशनी डाले रहकर वह सिरा ढूँढ़ लाना चाहते हैं जिसे अपने पाठकों को दिखाकर कह सकें–लीजिए, यह रहा वह सिरा, जिसे थामकर खींचने से सारा का सारा अवगुंठन खुद-ब-खुद खुलता चला जाएगा !

जोशी के ऐसे ही उपचारोन्मुख नज़रिये की पुष्टि उनकी 'किडनैप्ड' तथा 'चिट्ठी-पत्री' जैसी कहानियों से भी होती है। 'किड्नैप्ड' में सम्मोहिनी यों ही इस 'निश्चित परिणाम' पर नहीं पहुँची है कि 'स्त्री के संबंध में पुरुष की श्वान-वृत्ति ही अधिक उमड़ी रहती है।' इसके मूल में हैं उसके वे अनुभव, जो 'पुरुषों की घोर हीनता और स्वार्थ से मिश्र घृणित वृत्तियों के संबंध में' उसे 'अपने छोटे जीवन में' होते रहे। 'चिट्ठी-पत्री' कहानी में एक कैम्ब्रिज पास लड़की (प्रमिला) का ससुराल पहुँचकर पुरातनपंथी संस्कारों

से समझौता कर लेना भी अकारण नहीं है। प्रमिला की चिट्ठी के जवाब में उसकी एक सहेली लिखती है– 'शायद तुम यह सोचती हो कि तुम्हारा हृदय सचमुच पर्दा-प्रथा की महत्ता स्वीकार करने लगा है, पर यह निरा ढोंग है। तुम्हारा अभिमानी हृदय मानो सांसारिक तथा सामाजिक चक्र में दलित और पिष्ट होकर अंत में अपने आपको ठगना चाहता है और नम्रता, दैन्य और विनय की चरम सीमा को पहुँचकर अपने अभिमान के भाव की तुष्टि करना चाहता है !' इस तरह के विश्लेषणों की भरमार जोशी जी की कहानियों में बराबर बनी रहती है। और इन विश्लेषणों का रुख किस ओर रहेगा, यह तय करने में जोशीजी के उपचारोन्मुख नज़रिये का प्रमुख हाथ होता है।

जोशी जी अपने रचना-संसार को जिन दुर्बल स्वभाव वाले चरित-नायकों की शरणस्थली बनाते हैं, उनका आदर्श प्रारूप (मॉडल) उन्होंने शेक्सपीयर के 'हैमलेट' में देखा है। प्रसिद्ध रूसी कथाकार तुर्गनेव के एक मत का हवाला देते हुए जोशी जी बताते हैं कि संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं– एक तो हैमलेट की कोटि के और दूसरे डान क्विक्ज़ोट की कोटि के। 'हैमलेट की कोटि के व्यक्ति अपनी अंतर्भावनाओं पर जीते हैं। वे जितने ही बौद्धिक होते हैं, उतने ही अनुभूतिशील और भाव-प्रवण भी। इसलिए व्यावहारिक जगत् में एक भी क़दम रखने के पहले वे असंख्य भीतरी पहलुओं से उस पर विचार करते हैं, जिसके फलस्वरूप व्यावहारिक क्षेत्र में वे निकम्मे सिद्ध होकर रह जाते हैं। क्विक्ज़ोट की कोटि के व्यक्तियों में चिंतनशीलता तथा अनुभूतिपरायणता तनिक भी नहीं होती। पर वे कर्मठ होते हैं और उनकी महत्वाकांक्षा आदर्शवादी तथा सुधारवादी नेता बनने की होती है।' कथाकार जोशी अपने चरित-नायकों को हैलमेट की तरह होता देखने में ही विशेष रुचि रखते हैं, डान क्विक्ज़ोट की तरह होता देखने में नहीं। क्योंकि उनका मानना है कि हैमलेट की तरह के 'निस्सार' और निकम्मे पात्रों के भीतर 'अणुशक्ति के ऐसे भाव-बीज निहित रहते हैं जो उपयुक्त मिट्टी मिलने पर बाह्य जगत के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।' ('साहित्य-चिंतन', पृ. - १००)।

जोशी जी अपने पात्रों को 'हैमलेटी' व्यक्तित्व देने का कितना विकट उत्साह रखते हैं, यह उनकी कहानियों से स्वतः स्पष्ट है। 'पागल की सफ़ाई' नामक कहानी में तो नायक स्वयं यह कह देता है कि जिस तरह के पागलपन का स्वाँग वह खुद रच रहा है, हैमलेट उसका उदाहरण है। इतना ही नहीं, जोशी जी का यह नायक हैमलेट के दृष्टिकोण की विशेषता इन शब्दों में रखता है – 'वह यद्यपि सचमुच में पागल नहीं था, बल्कि पागल का स्वाँग रचकर दुनिया के रंग-ढंग जानना चाहता था, पर सभी विषयों पर उसका

दृष्टिकोण ऐसा निराला था कि यह कहना होगा कि बौद्धिक स्तर में वह पागलों की ही तरह मन की विचित्र उड़ानें भरा करता था।'

जोशी जी के दुर्बल स्वभाव वाले चरितनायकों पर सार्वजनिक रूप में इस विशेषता को लागू करना एक तरह का सरलीकरण ही माना जाएगा। लेकिन एक मार्के की बात यहाँ हमारी पकड़ में आ सकती है। उपर्युक्त उद्धरण में 'दुनिया के रंग-ढंग जानने की चाह' और 'बौद्धिक स्तर में–मन की विचित्र उड़ानों ' के बीच जिस असामंजस्य की स्वीकृति दिख रही है, वह असामंजस्य एक प्रकार से कहानीकार जोशी के यथार्थ-बोध और उनकी कल्पनाशीलता के बीच का भी असामंजस्य है। व्यवहार और आचरण में एकदम समाज-विरोधी-से प्रतीत होने वाले पात्र अपनी समस्त दुर्बलताओं के साथ जोशी की कल्पना में एक के बाद एक आते चले जाते हैं। अपनी जिन जड़ों से उखड़े हुए वे व्यक्ति-चरित्र होते हैं, जोशी जी उन जड़ों का केवल वही हिस्सा अपनी निगाह में रखते हैं जो विच्छिन्न होकर उनके साथ उनके मन में चला आया है। जड़ का वह हिस्सा जो कहीं ज़मीन में ही गड़ा रह गया होता है, उसकी तरफ़ मुड़कर देखने का जोशी जी को मौका ही नहीं मिलता। इसलिए उनका चरित्र-चित्रण एक तरह से विच्छिन्न चरित्र-चित्रण ही रहता है। समग्र चरित्र-चित्रण वह नहीं हो पाता।

बहरहाल, इस तथ्य को कोई चुनौती नहीं दी जा सकती कि ज़िंदगी की सामान्य पगडंडियों से भटके और समाज की दृष्टि में हमेशा के लिए घृणित बनकर रह गये व्यक्तियों को अपनी सहानुभूति का पात्र बनाने में जैसी उदारता जोशी जी दिखाते हैं, वह उनके कथाकार की अपनी विशेषता है। संख्या के लिहाज से भी जितने अधिक दुर्बल स्वभाव वाले चरितनायकों को सर्जनात्मक उदारता का उपहार जोशी जी के रचना-संसार में मिल सका, हिंदी के किसी दूसरे वरेण्य कथाकार के यहाँ उतनों को वह नहीं मिला।

रचना में मनोविश्लेषण : सोद्देश्यता का प्रश्न

आधुनिक बोध अपनी विकास-प्रक्रिया में जैसे-जैसे विचार से भाव तक की दूरी तय करता गया, मनुष्य के मन की सत्ता भी अपनी नई पहचान पाती गई। आधुनिक रचना भी मन की इस नई पहचान से अपने को वंचित कैसे रख सकती थी ? पूर्ववर्ती साहित्य में मन प्रायः हृदय का ही पर्याय हुआ करता था। हृदय के व्यापार और बुद्धि के व्यापार को परस्पर भिन्न ही नहीं, बल्कि अक्सर एकदम विरोधी मानने के तर्क का परिणाम था वह मन ! मानवीय सोच में ज्यों-ज्यों वस्तुपरकता आती गई, भावनात्मकता के प्रति तर्क की बद्धमूल संकोचशीलता शिथिल होती गई। तर्क का आश्रयस्थल मस्तिष्क ही होता है—यह पारंपरिक मान्यता थी। मन के भी अपने तर्क और नियम होते हैं—अब यह विचार सामने आया। इस प्रकार हृदय और बुद्धि—इन दोनों के द्वंद्व की ही नहीं, दोस्ताने की भी संभावनाएँ स्पष्ट होने लगीं। इस द्वंद्व और दोस्ताने का भोक्ता बना आधुनिक मन और साक्षी बना आधुनिक दर्शन। परिणामतः आधुनिक साहित्य में भी मनुष्य के इसी मन की अवतारणा हुई।

आधुनिक रचनाकारों को मनुष्य के मन का यह 'मॉडल' उपलब्ध कराने में अपनी सदी के महान मनोविज्ञानवेत्ताओं ने विशेष योग दिया। प्राकृतिक विज्ञान (नेचुरल साइंसेज़) के क्षेत्र में जिस तरह बाह्य प्रकृति के नियम खोजने पर बल दिया गया था, मनोविज्ञानवेत्ताओं ने उसी तरह आंतरिक प्रकृति के नियम खोजकर मनुष्य के आचरण की व्याख्या ही बदल डाली। पाप-पुण्य की धर्मगत अवधारणाओं के स्थान पर मानवीय मनोरचना के वैज्ञानिक आधारों पर मनुष्य के चरित्र को परखा जाने लगा। असामान्य और समाज-विरोधी स्वरूप के लिए जिस आचरण की अब तक भर्त्सना होती थी, अब उसके मनोगत कारणों के प्रति वैज्ञानिक समझदारी की माँग पैदा हुई। फ्रायड ने मनुष्य की मौलिक वृत्तियों का अभिज्ञान हमें कराया। यौन-वृत्ति को उसने आधारभूत वृत्ति सिद्ध किया और बताया कि इसके दमन से पैदा होने वाली मानसिक बाध्यताएँ व्यक्ति और समाज दोनों के विकास के लिए घातक होती हैं। एडलर ने 'हीनता-ग्रंथि' और 'क्षतिपूरकता' का सिद्धांत प्रस्तुत करके मनुष्य

की 'अहंभावना' और यौनेतर आंतरिक वृत्तियों के विवेचन को गति दी। युंग ने 'सामूहिक अवचेतन' के सिद्धान्त द्वारा व्यक्ति के अंतर्मन में मानवीय अनुभवों की आवृत्तियों का एक सामूहिक संचयन कारगर होते देखा। इन सभी सिद्धांतों की सीमाएँ चाहे कुछ भी रही हों, लेकिन इन सबके पीछे बुनियादी प्रेरणा यही थी कि एक ऐसी रोशनी मनुष्य को मिले जिससे उसके मन के किसी भी कोने में पड़ी कोई भी वृत्ति आधुनिक मनुष्य की समझदारी के प्रति छिपाव-दुराव का भाव न रख सके।

मन की लुका-छिपी के खेल में साहित्यकार की दिलचस्पी स्वभावतया कुछ ज़्यादा ही होती है। इस खेल में अपनी जीत अधिकाधिक सुनिश्चित करने के लिए, यदि किसी आधुनिक साहित्यकार को मनोवैज्ञानिक चेतना से लैस होना विशेष उपयोगी लगता है, तो इसे असंगत नहीं कहा जा सकता। इलाचंद्र जोशी की कृतियों में मनोवैज्ञानिकता की अभिवृत्ति के आग्रहपूर्ण सन्निवेश पर विचार करते समय यह बात अनिवार्यतया हमारे ध्यान में रहनी चाहिए।

जोशी जी अपने उपन्यासों में आयत्त अनुभवों का स्वरूप बताते हुए एक जगह कहते हैं–

'जीवन में जो भी व्यापक, गहन और मार्मिक अनुभव मुझे होते चले गये हैं वे सब मेरे अंतर्मन में एकत्रित होते हुए एक-दूसरे के सम्पर्क में और संघर्ष में आते गये हैं। मेरे अंतर में जो एक चक्कीनुमा रासायनिक यंत्र है, उसमें वे सब अनुभव घुटते और पिसते चले गये हैं और रासायनिक मिश्रण की क्रिया के फलस्वरूप नये-नये कथा-रूप और नये-नये कला-तत्व उत्पन्न होते चले गये हैं। उन्हीं कथा-रूपों और कलातत्वों के संयोजन ने ही मेरी औपन्यासिक रचनाओं का रूप प्राप्त किया है।' ('मेरे उपन्यास' शीर्षक लेख, 'विश्लेषण', पृ. - १६४)।

यहाँ 'अंतर के चक्कीनुमा रासायनिक यन्त्र' का उल्लेख जोशी जी की रचना-दृष्टि के सन्दर्भ में बहुत प्रासंगिक है। मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को जोशी जी बहुधा इसी यन्त्र के पुर्जों के रूप में लेने की कोशिश करते हैं। स्व-रति और अहंभाव का जो विकास वे अपने उपन्यासों में लज्जा (घृणामायी) और नंदकिशोर (संन्यासी) जैसे प्रमुख पात्रों में दिखाते हैं, उसमें फ्रायड-निरूपित काम-मूलक और स्वार्थ-मूलक वृत्ति 'लिबिडो' की पहचान बहुत स्पष्ट है। 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ अपने पिता को 'तिब्बती दानव' के रूप में देखता है और मंजरी माँ की मृत्यु पर खुद को यह समझाती है– 'स्नेह के जिस कठोर बंधन में वह तुम्हें बांधे हुए थी, वह तुम्हारे जीवन्

की गति को चारों ओर से रोके हुए था—अच्छा ही हुआ कि उसकी मृत्यु ऐसे समय में हो गई जब तुम्हारे भीतर थोड़ी-सी हरियाली शेष थी।' ('प्रेत और छाया', पृ. - १६४)। पारसनाथ और मंजरी की इन अनुभूतियों में क्रमशः मातृ-रति ग्रंथि (ईडिपस काम्प्लेक्स) और पितृ-रति ग्रंथि (एलेक्ट्रा काम्प्लेक्स) की झलक अनचीन्हीं नहीं रह सकती। 'सुबह के भूले' की गिरिजा में हीनता-ग्रंथि को और 'जहाज़ का पंछी' के नायक में 'सामूहिक अवचेतन' को एलडर और युंग के सिद्धांतों से जोड़कर सहज ही देखा जा सकता है। इसी प्रकार यथास्थान हम यह देख चुके हैं कि जोशी जी की कहानियों में भी उनके पात्र अपने भीतर ही भीतर किसी न किसी ग्रंथि से उद्वेलित और उद्‌गारित हो रहे होते हैं। 'अंतर के चक्कीनुमा रासायनिक यन्त्र' से अनुभव के गुज़रने की परिणमित लब्धि मात्र को अभिव्यक्त करने से जोशी जी का मन नहीं भरता। वे उस यन्त्र से अनुभव के गुज़रने की प्रक्रिया को भी उजागर कर देना चाहते हैं और कभी-कभी तो उस यन्त्र के पुर्ज़े-पुर्ज़े मानो खोलकर वे अपने पाठकों के सामने रख देने को उतावले हो जाते हैं। इसी कारण उनकी रचनाओं में स्थल-स्थल पर घटनाओं के सूत्र बेतरह बिखर जाते हैं। कथानक और अनुभव की संश्लिष्टता छिन्न-भिन्न हो जाती है और मनोविश्लेषण ही मनोविश्लेषण रह जाता है। उदाहरण के लिए 'प्रेत और छाया' में पारसनाथ और मंजरी के प्रेम-वार्ता और आलिंगन संबंधी प्रसंग को अनुभूति के आधार से एकाएक स्खलित कर लेखक एक विशेष मानसिक अवस्था की व्याख्या पर ला पटकता है :—

'उसे स्पष्ट दिखाई दिया कि उस अधेड़ और अंधी स्त्री की विकट और लोमहर्षक प्रेतछाया,....उन दोनों के बीच आकर खड़ी हो गयी। ....मंजरी की मां की मृत्यु की जिस कालरात्रि में उसके मुख का जो प्रेत-रूप उसने देखा था और जिसे देखकर वह एक अज्ञात, रहस्यमय भय से सिहर उठा था, आज की छायामूर्ति का रूप उससे कई गुना अधिक वीभत्स और भयंकर उसे लगा।' ('प्रेत और छाया' पृ. - २८२)।

पारसनाथ और मंजरी की प्रेमानुभूति को उपन्यासकार यहाँ रचनात्मक संवेदना के सधे हाथों नहीं ले पाता और अपनी मनोविश्लेषणवादी सैद्धांतिकता के हाथों में उसे सौंप देने की ज़्यादती कर बैठता है। वह पारसनाथ की मनः स्थिति को केवल इस तथ्य से संबद्ध कर देता है कि मंजरी की माँ की मृत्यु के दिन देखे गये एक रोमांचक दृश्य का प्रभाव उसके अवचेतन में किस तरह ग्रंथिबद्ध हो गया था। यों वह

बस एक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत का अक्स मात्र उतार कर रह जाता है। साहित्य-चिंतक के रूप में जिस लेखक ने डी. एच. लारेंस और जेम्स ज्वायस के उपन्यासों को 'हताशवाद-धन-फ्रायडवाद' की देन बताया ('साहित्य-चिंतन' पृ. - ३०) वही लेखक खुद अपने उपन्यासों में भी किस प्रकार 'हताशवाद-धन-फ्रायडवाद' का शिकार हो जाता है, यह 'प्रेत और छाया' के उपर्युक्त प्रसंग से स्वतः स्पष्ट है।

वैसे जोशी जी सचेतन रूप में अपने आपको फ्रायडवादी नहीं मानते। लेकिन सोद्देश्य उपयोग से उन्हें कोई परहेज़ भी नहीं है। सोद्देश्यता की बात पर प्रगतिवादी लेखक भी बल देते हैं। किन्तु सोद्देश्यता की प्रगतिवादी व्याख्या से जोशी जी की सहमति नहीं हो पाती। क्योंकि उन्हें लगता है कि 'केवल बाह्य जीवन की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था और परिणामस्वरूप वर्ग-संघर्ष को ही बाहरी और भीतरी जीवन की एकमात्र परिचालिका शक्ति मानना और केवल उसी से संबंध रखने वाले तत्वों की खोज के पथ को प्रगतिशीलता का एकमात्र पथ बताना घोर भ्रममूलक है' ('प्रेत और छाया', भूमिका)। वे मनोविश्लेषणवाद के योग से प्रगतिवाद को कुछ अधिक उपयोगी बनाकर या तो उसे 'समन्वयात्मक प्रगतिवाद' के रूप में प्रस्तावित करते हैं या फिर प्रगतिवाद के कुछ मनोनुकूल तत्वों को लेकर अपने मनोवैज्ञानिक रचना-सिद्धान्त में शामिल कर लेना चाहते हैं ताकि उसे 'प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' की संज्ञा दी जा सके। लेकिन प्रगतिवादियों के सामने इन दोनों ही प्रस्तावों के खतरे बहुत साफ़ रहे। प्रगतिवाद साधारण जन की समस्याओं के चित्रण के प्रति प्रतिश्रुत होता है, जबकि मनोविश्लेषणवादी आग्रह अहंवादी और यौन-कुंठग्रस्त असाधारण और अद्भुत नायकों के चरित्रचित्रण में ही अधिकतर व्यस्त हो जाता है।

सोद्देश्यता के अलावा रहस्यवाद से भी मनोविश्लेषण का तालमेल बिठाने का उपक्रम जोशी जी के यहाँ द्रष्टव्य है। मनोविश्लेषणवादियों में वे सबसे ज्यादा महत्त्व युंग को देते है। 'युंग का मनोविज्ञान फ्रायड और एडलर दोनों से भिन्न है और दोनों से बहुत आगे बढ़ा हुआ, अधिक व्यापक और अधिक गहरा।' ('देखा-परखा', पृ. - ४२)। युंग के 'सामूहिक अवचेतन' वाले सिद्धांत की परिधि में जन्म-मरण, पुनर्जन्म, मिथकीय विश्वास आदि भी मानवीय अनुभवों के अंग-रूप में स्थान पाने की गुंजाइश रखते हैं। इस प्रकार युंग के सिद्धांत में मनोविज्ञान के साथ रहस्यवाद भी आसानी से खप सकता है। जोशी जी भारतीय लेखक के रूप में रहस्यवादी अभिवृत्ति को पर्याप्त

महत्त्व देते हैं। उनके तादात्म्य का कारण इस नाते भी समझा जा सकता है। जोशी जी का मानना है कि 'संसार में आज तक जितने भी प्रतिभाशाली लेखक, कवि या मनीषी हुए हैं, वे सब मूलतः रहस्यवादी रहे हैं—उनकी प्रतिभा के आकस्मिक विस्फोट के मूल कारण किसी ऐसे दिव्य चेतनालोक में निहित हैं जो उनके जड़ अस्तित्व के मूल में अवस्थित हैं।' ('साहित्य-चिंतन', पृ. - १०)। जोशी जी मनोविश्लेषणवाद में रहस्यवाद का योग इसी 'दिव्य चेतनालोक' में अपनी आस्था के कारण करते हैं। 'फ्रायडियन अवचेतना' से वे सन्तुष्ट नहीं होते। जिस 'अवचेतना' पर उन्हें प्रतीति है, उसका जिक्र उन्होंने 'ऋतुचक्र' उपन्यास में एक स्थान पर अपने एक पात्र के ज़रिये इस तरह कराया है : 'जन्म जन्म के संस्कार, अनुभव और अनुभूतियाँ ही व्यक्ति की मूल अवचेतना का निर्माण करती हैं। प्रत्येक जन्म की नयी नयी अनुभूतियाँ उस मूल अवचेतना से जुड़ती चली जाती हैं।' ('ऋतुचक्र', पृ. - ४८९)। 'अवचेतना' की इलाचंद्र जोशी द्वारा निरूपित यह संकल्पना युंग-निरूपित 'सामूहिक अवचेतना' की ही निकटवर्ती हो सकती है।

जोशी जी की कृतियों में वैयक्तिक चेतना की उद्‌दामता के चित्र ज्यादा हैं, लेकिन सामाजिक चेतना में उसके अंतः संबंधों की एकदम अवहेलना न हो सके, इसका ध्यान भी उन्हें रहता है। इसीलिए मनोविश्लेषणवादी तत्वों का उपयोग वे उपचारोन्मुख नज़रिये से करते हैं। मनोवैज्ञानिकता का वे आधुनिक रचना के सन्दर्भ में वही उद्देश्य मानते हैं जो प्राचीन ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त को अभीष्ट था। 'वह उद्देश्य यह है कि कलाकार अपनी रचना में प्रचंड आतंक और मार्मिक करुणा का वातावरण उत्पन्न करके अपने पात्रों के मनोविकारों के क्षालन (और स्वभावतः उन्नतीकरण) के साथ ही पाठकों के मन पर प्रभाव डालता है।' ('आधुनिक हिंदी साहित्य में मनोविज्ञान' शीर्षक लेख, 'विश्लेषण' पृ. - ८६)। इसी बात को एक अन्य निबंध में और अधिक स्पष्ट करते हुए जोशी जी लिखते हैं— 'व्यक्तिगत और समष्टिगत मानव मन के भीतर के विभिन्न स्तरों से जो आत्मकामी अथवा असामाजिक प्रवृतियाँ समय-समय पर उठती रहती हैं, उनका विश्लेषण करके उनके मूल सूत्र से यदि रसग्राही जनता को परिचित कराया जाय तो बहुत सी मानसिक उलझनों और असंतुलित मनोविकारों से मुक्त होने में सहायता मिल सकती है।' ('विश्लेषण' पृ. - १०९)।

इसी रचनात्मक उद्देश्य के तहत जोशी जी अपनी कृतियों में असाधारण या

अपसाधारण पात्रों को न केवल साधिकार प्रवेश दिलाते हैं बल्कि उन पात्रों के अंतर्मन में निहित उन ग्रंथियों का विस्तार से अवलोकन कराते चलते हैं, जिनके कारण उनके पात्र असाधारण अथवा अपसाधारण अवस्था को प्राप्त हुए होते हैं। उदाहरण के लिए 'प्रेत और छाया' के नायक पारसनाथ का चरित्र हम देखें। वह विवाह का विरोध करता है। सदाचार या सतीत्व को वह सिर्फ़ ढोंग मानता है। कुमारियों को ही नहीं, विवाहिता स्त्रियों को भी वह भ्रष्ट करता है। इसके पीछे किस मूल ग्रंथि का हाथ है ? पारसनाथ के अंतर्मन में इस बात की स्मृति एक तीक्ष्ण रेखा-सी खिंची है कि उसकी माँ कुलटा थी। अंततः जब पिता के द्वारा वास्तविक सत्य का उद्‌घाटन किया जाता है तो पारसनाथ की मनोग्रंथि खुल जाती है। इस प्रकार जोशी जी यह दिखाते हैं कि ग्रंथि को खोज निकालना, ग्रंथि को खोल सकने का प्रथम चरण है और इस चरण से गुज़र कर ही किसी असाधारण और असामाजिक चरित्र को साधारण और सामाजिक बनाने का उपक्रम किया जा सकता है।

'संन्यासी' का नंदकिशोर अहंभाव और तज्जन्य विकृतियों से ग्रस्त है। उसके अहंभाव ने उसे असाधारण रूप से स्वार्थी और ईर्ष्यालु बना दिया है। वह शांति से एकनिष्ठ प्रेम की आकांक्षा रखता है लेकिन खुद उसके प्रति अपने प्रेम में निष्ठावान् रहने की ज़रूरत नहीं समझता। उसके मन में एक अतृप्त प्रतिहिंसा-वृत्ति है। उसी से प्रेरित वह जयंती से विवाह करता है। जयंती द्वारा उसके अहंभाव को आघात पहुँचता दिखाकर जोशी जी उसकी मनोग्रंथि के अवगुंठन को ही मानो अनावृत करने की चेष्टा करते हैं।

जोशी जी अपनी रचनाओं में यह भी दर्शाना चाहते हैं कि अत्यधिक सामाजिकता का अंकुश स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास को किस तरह कुंठित कर सकता है। अपने एक निबंध 'साहित्य में वैयक्तिक कुंठा' में उन्होंने लिखा-'अपने को सामाजिक दबाव के कारण निरंतर छिपाते रहने, अपनी भीतर की वास्तविक प्रवृतियों को बराबर दबाते रहने का फल यह होता है कि व्यक्ति के भीतर के द्वंद्व बढ़ते चले जाते हैं। इस प्रकार का कुंठित व्यक्ति बाहरी परिस्थितियों की विषमता से लड़कर उन पर विजय प्राप्त करके, व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन की गति को आगे बढ़ाते चले जाने में सहायक होने के बजाय अपनी ही दमित प्रवृतियों से लड़ने में अपनी सारी शक्तियों को समाप्त कर देता है और संघर्ष में उलझकर स्वयं ही

क्षत-विक्षत होता चला जाता है।' ('देखा-परखा', पृ. - ६०)। अपनी इसी मान्यता को रचनागत अनुभव में ढालने की दिशा में जब जोशी जी बढ़ते हैं, तो उन्हें अपने कथा-संसार के कई पात्र उपलब्ध होते हैं। पुरुष-पात्रों में 'प्रे ' और छाया' के पारसनाथ का उल्लेख हम कर चुके हैं। स्त्री-पात्रों के अंतर्गत 'परदे की रानी' की निरंजना और 'जिप्सी' की मनिया का उदाहरण लिया जा सकता है। ये पात्र जन्म से कुंठित मन लेकर नहीं आये हैं। सामाजिक स्थितियों के अतिशय दबाव ने उन्हें कुंठा-ग्रस्त किया है और उन्हें जीवन का स्वाभाविक और साधारण धरातल तब तक नहीं मिल पाता जब तक उनकी कुंठा-ग्रस्तता का उपचार करने वाली स्थितियाँ इनके अनुभव का अंग नहीं बनतीं।

जोशी जी द्वारा किये गये मनोविश्लेषण की उपचारोन्मुख प्रवृत्ति कहीं-कहीं हृदय-परिवर्तनवादी रंग लिये हुए भी दिख जाती है। जैसे 'आहुति' और 'प्रतिशोध' शीर्षक कहानियों में। यह ज़रूर है कि हृदय-परिवर्तन के रंग को जोशी जी अपने कथानाकों के कैनवस पर न तो बहुत फैलने देते हैं और न बहुत गाढ़ा होने देते हैं। उनके पात्रों का हृदय-परिवर्तन घटनाओं की बाह्य (सामाजिक अथवा नैतिक) ज़रूरतों से नहीं, बल्कि वैयक्तिक अंतः संवेगों से उत्प्रेरित होता है। हृदय-परिवर्तनवाद को अपने यहाँ इस तरह समंजित करने में मनोविश्लेषणवाद जोशी जी के बहुत काम आता है।

आधुनिक हिंदी कथाकारों के मध्य इलाचंद्र जोशी का स्थान तय करते समय आलोचकों की दृष्टि प्रायः दो ही बातों पर विशेष केंद्रित रहती है। एक बात तो यह कि जोशी जी आधुनिक कथा-विकास की उस दिशा के कथाकार हैं, जिसे कथा की व्यक्तिवादी दिशा कहा जाता है। दूसरी बात यह कि वे मूलतः मनोविश्लेषणवादी कथाकार हैं। ये दोनों ही बातें अपने-अपने सिरों पर एकांगी हैं। जोशी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के समग्र अनुशीलन से जोशी जी की जिस विशेषता से हमारा परिचय होता है, वह यह है कि जोशी जी आधुनिक व्यक्तिवादी कथाकारों में सबसे कम व्यक्तिवादी हैं। उनका व्यक्तिवाद बद्ध व्यक्तिवाद नहीं है। वे उसे उस सामाजिक चेतना में उन्मोचित करने को सजगतय प्रवृत्त होते हैं, जो वैयक्तिक अंतश्चेतना को कुंठित करने वाली न साबित हो। व्यक्तिवाद को इस तरह उन्मोचित करने में सर्वाधिक सहायक उपकरण या साधन के रूप में ही वे मनोविश्लेषणशास्त्र का उपयोग करते हैं। जोशी जी को मनोविश्लेषणवादी लेखक होने का श्रेय देने वाले

अथवा उन्हें मनोविश्लेषणवादी लेखक कहकर चलता कर देने वाले आलोचकों को यह भूलना नहीं चाहिए कि मनोविश्लेषणवाद कथाकार जोशी के लिए मात्र साधन ही रहा है, साध्य नहीं। जोशी जी यह बात भली-भाँति जानते हैं कि मनोविश्लेषण को साध्य मान बैठने के ख़तरे रचना में क्या होते हैं। तभी तो वे स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं, 'फल यह देखने में आता है कि कुंठा का विश्लेषण और चित्रण साधन न रहकर साध्य बन जाता है और व्यापक सामाजिक समस्याएँ हल नहीं हो पातीं।' (साहित्य में वैयक्तिक कुंठा' शीर्षक लेख, 'देखा-परखा' पृ. - ६०)। ज़ाहिर है कि चाहे व्यक्तिवाद हो, चाहे मनोविश्लेषणवाद–'सामाजिक समस्याओं के हल' की चिंता से सर्वथा विमुक्त कोई भी वाद उन्हें स्वीकार्य नहीं है।

जोशी जी वैयक्तिक चेतना को सामाजिक चेतना के अनवरुद्ध विकास का ही सोपान मानते हैं। इसीलिए वैयक्तिक चेतना की अवरुद्धताओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने का कोई भी अवसर चूकना नहीं चाहते। इसी प्रक्रिया में उनके असाधारण अथवा अपसाधारण पात्रों का व्यक्तित्वांतरण होता है। 'प्रेत और छाया' का अहंग्रस्त, उच्छृंखल और स्वार्थांध पारसनाथ अंततः हीरा की स्वस्थ प्रणय-भावना का आश्रय बन जाता है। 'संन्यासी' का नंदकिशोर वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की अदम्य आकांक्षा से पीड़ित स्व-रति की भूलभुलैया में भटकता हुआ आखिरकार अपने व्यक्तित्व की संकुचितता के सामने आ खड़ा होता है और समष्टि-हित के लिए अपने को समर्पित कर देता है। 'सुबह के भूले' की नायिका गिरिजा भी स्व-केंद्रित महत्वाकांक्षाओं में भटकती है, लेकिन उसका आत्म-विश्लेषण अपने समाज की सही ज़मीन पर उसे भी समय रहते वापस ले आता है। 'जिप्सी' के नायक नृपेंद्र रंजन की पूंजीवादी मानसिकता की भी अंततोगत्वा कुछ ऐसी परिणति संभव होती है कि वह मनिया द्वारा प्रस्तुत अपनी अग्नि-परीक्षा के लिए भी तैयार हो जाता है और अपनी सारी पूंजी समाज-सेवा में लगा देता है। 'जहाज़ का पंछी' का नायक 'फ्री-वर्ल्ड' में अपनी अबाध सैर के लिए उतावला दिखाया गया है, लेकिन जोशी जी उसे भी अंततः स्वस्थ सामाजिक चेतना का स्वरूप पहचनवाकर ही दम लेते हैं। 'जहाज़ का पंछी' उपन्यास नायक में इस बोध के अभ्युदय के साथ समाप्त होता है कि उसके समक्ष प्रश्न केवल उसके व्यक्तित्व के संकट का ही नहीं है, बल्कि उसके सामाजिक अस्तित्व के संकट का भी है। अपने पात्रों को उनकी आचरणगत असामान्यता से मुक्ति का द्वार दिखाने के लिए ही जोशी जी उनके मनोविश्लेषण में प्रवृत्त होते हैं।

यद्यपि यह सही है कि इसके लिए वे ऐसे किसी विचारधारात्मक समाज-दर्शन का सहारा नहीं लेते, जिसकी माँग प्रगतिवादी लेखकों द्वारा अनिवार्यतया की जाती है।

मनोविश्लेषणवादी आग्रहों के कारण जोशी जी की अधिकांश कृतियाँ चरित्र-चित्रण-प्रधान हैं। विश्लेषणात्मकता को संभालने के चक्कर में कथावस्तु की संश्लिष्टता पर जोशी जी की पकड़ सर्वत्र प्रायः ढीली हो जाती है। विश्लेषणात्मकता का सलूक लेखक की तरफ़ से अनधिकृत न मालूम पड़े, इसके लिए जोशी जी बहुधा यह उपाय करते हैं कि उसे अपने पात्रों के आत्मविश्लेषण के रूप में उभारते हैं। इसीलिए वे अपनी अनेक कृतियों में आत्मकथात्मक या आत्मपरिचयात्मक शैली अपनाते हैं। प्रायः ऐसा माना जाता है कि इस शैली में अंतरंगता का तत्व ज्यादा संभावित हो जाता है। 'संन्यासी' और 'जहाज़ का पंछी' जैसे उपन्यासों में बेशक ऐसी अंतरंगता के दर्शन होते हैं, खासकर इसलिए कि वहाँ लेखक के जीवनगत आत्मानुभवों का आधार भी बराबर बना रहता है। लेकिन जब 'घृणामयी', 'परदे की रानी' नामक उपन्यासों में, या 'दुष्कर्मी' जैसी कहानियों में आत्मकथात्मकता के 'गढ़े हुए मोड़' लाये जाने लगते हैं तो रचनागत अनुभव की अंतरंगता में वे दरार ही अधिक डालते हैं। जोशी जी की कुछ रचनाओं में यह भी देखा जाता है कि अनुभव की अंतरंगता में पड़ी दरारों को वे अपने पात्रों में आत्म-करुणा का भाव जगाकर, भर देने की कोशिश करते हैं। लेकिन इससे भी रचनानुभव में एक प्रकार का जड़त्व ही पैदा होता है। आत्म-करुणा का ऐसा ही जड़त्व जोशी जी की 'दुष्कर्मी' शीर्षक कहानी को एक कमज़ोर रचना बनाता है। जबकि 'बदला' शीर्षक कहानी एक अच्छी रचना बन पड़ती है क्योंकि वहाँ वैसी आत्म-करुणा से बचाव है। 'बदला' में नायक के चरित्र में करुणा और हास की सम्मिश्र झिलमिलाहट किसी अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या की मोहताज़ नहीं रहती। यह विशेषता 'जहाज़ का पंछी' के नायक के चरित्र-चित्रण में भी देखी जा सकती है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि किसी अनुभव की सच्ची रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित अंतरंगता का तत्व केवल किसी शैली-विशेष का प्राप्तव्य नहीं हो सकता। मूलतः वह घनीभूत संवेदना का ही प्राप्तव्य होता है। जोशी जी के मनोविश्लेषणवादी रुझान की इस सीमा से इनकार नहीं किया जा सकता कि जोशी जी संवेदना की कमी को बहुत बार सैद्धांतिकता से पूरा कर लेना चाहते हैं जो कि अपेक्षित संवेदनात्मकता की स्थानापन्न (सब्स्टीट्यूट) कभी नहीं हो पाती।

जोशी जी पर जब यह आरोप लगाया गया था कि वे फ्रायडवादी हैं तो जोशी जी ने अपने आलोचकों से यह बहुत ही सार्थक प्रश्न किया था : 'चाहे फ्रायडवाद हो चाहे कोई दूसरा मनोविश्लेषणवाद, वह यदि आपके हाथ में एक ऐसा अस्त्र देता है, जिससे आप बुर्जुवा मनोवृत्ति को चीर कर खंड-खंड करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, तब उसे अपनाने में आपको क्यों आपत्ति होती है ?' इस प्रश्न में जोशी जी का जो रचनात्मक साहस बोल रहा है, वह बेशक स्वागत योग्य है। लेकिन उनकी रचनाओं में अनेक स्थल ऐसे भी आते हैं जहाँ जोशी जी से यह प्रति-प्रश्न करने की इच्छा होती है कि क्या सचमुच तब भी कोई आपत्ति नहीं की जानी चाहिए, जब कोई लेखक अपनी रचना में अनुभव की यथार्थ सत्ता से अधिक अनुभव की शास्त्रीय सत्ता की खोज का दीवाना होने लगे ?

सर्जक की आलोचक मुद्रा

इलाचंद्र जोशी के कृती व्यक्तित्व से सम्पूर्णतया परिचित होने के लिए आलोचक के रूप में भी उनकी भूमिका पर दृष्टिपात कर लेना ज़रूरी है। आलोचना के क्षेत्र में जिस आत्म-विश्वास के साथ उन्होंने पदार्पण किया, वह आत्म-विश्वास उन्होंने किसी व्यवस्थित शिक्षा के ज़रिये नहीं, बल्कि महज़ स्वाध्याय के बल पर अर्जित किया था। जितना वैविध्यपूर्ण उनका स्वाध्याय था, उतना ही वैविध्यपूर्ण उनका आलोचनात्मक लेखन भी रहा। हिंदी के कथाकारों में इस दृष्टि से जोशी जी की स्थिति सर्वथा विशिष्ट है।

यद्यपि जोशी जी ने आलोचना-संबंधी न तो कोई नया प्रतिमान प्रस्तुत किया और न ही किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, लेकिन फिर भी उनकी आलोचना साहित्य-चिंतन के 'बेहद्दी मैदान' में उनकी सतत उपस्थिति का जीवंत साक्ष्य प्रस्तुत करने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है।

जोशी जी के आलोचनात्मक निबंधों को हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। पहले वर्ग में उनके वे निबंध आते हैं जिनमें विश्व-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों अथवा विधाओं के प्रादुर्भाव और संभावनाओं का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। इस वर्ग के निबंधों में कुछ के शीर्षक निम्नवत् हैं :—

(१) 'साहित्य का भूत, भविष्य और वर्तमान' ('विश्लेषण')
(२) 'आधुनिक हिंदी साहित्य में मनोविज्ञान ('विश्लेषण')
(३) 'विश्व उपन्यास-साहित्य का क्रमिक विकास और भविष्य' ('साहित्य-चिंतन')
(४) 'आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण' ('विवेचना')
(५) 'भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता की परंपरा' ('विवेचना')
(६) 'आधुनिक आलोचना-साहित्य का भविष्य' ('विवेचना')

इन निबंधों में जोशी जी ने विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों के उद्भव और विकास में अंतर्धारा के तौर पर निहित आंतरिक प्रेरणाओं की मनोवैज्ञानिक अवस्थितियाँ स्पष्ट की हैं।

दूसरा वर्ग उनके ऐसे निबंधों का है जिनमें साहित्य और कला का सैद्धांतिक एवं तात्विक निरूपण किया गया है। 'साहित्य-सर्जना' नामक निबंध-संग्रह में इस प्रकार के अनेक निबंध संकलित हैं। जैसे, 'साहित्य-कला और विरह', 'जनसाधारण के साहित्य का आदर्श', 'साहित्य में दुःखवाद' और 'हमारे राष्ट्र का भावी साहित्य और संस्कृति' आदि। 'देखा-परखा' नाम के संग्रह में भी इस वर्ग के कुछ अन्य निबंध द्रष्टव्य हैं। जैसे–'साहित्य में वैयक्तिक कुंठा', 'साहित्य में वैयक्तिक स्वतन्त्रता बनाम सामाजिक चेतना' आदि। जोशी जी के समय की रचनाशीलता को साहित्य-संबंधी जो-जो सैद्धांतिक प्रश्न मथते रहे, उपर्युक्त निबंध उन समस्त प्रश्नों से हमारा सविस्तार परिचय कराते हैं।

तीसरे वर्ग के अंतर्गत हम जोशी जी के व्यावहारिक आलोचना-संबंधी निबंधों को शामिल कर सकते हैं। इन निबंधों से हमें देश-विदेश के साहित्य की विशिष्ट प्रतिभाओं और उनकी प्रमुख कृतियों के प्रति जोशी जी की गंभीर उन्मुखता का पता चलता है। जोशी जी केवल आधुनिक साहित्य के ही अध्येता नहीं थे। पुराने रचनाकारों की कृतियों के अध्ययन में भी उनकी गहरी रूचि थी। आधुनिकता के नाम पर जो लोग पूर्ववर्ती साहित्य के अध्ययन-अवगाहन की कोई ज़रूरत ही नहीं समझते, उन पर क्षोभ व्यक्त करते हुए जोशी जी अपने एक निबंध 'आज का साहित्य' ('देखा-परखा' पृ. - १०) में लिखते हैं–'रामायण और महाभारत तो आज प्रेरणा के स्रोत रहे ही नहीं। कालिदास, तुलसीदास, रवींद्रनाथ आदि प्राचीन और आधुनिक युग के महानतम कवियों की रचनाओं को भी नये कवियों और लेखकों ने एक प्रकार से बहिष्कृत कर दिया है।' जोशी जी साहित्य और संस्कृति को मानव-मात्र की सर्जनात्मक मनीषा के एक अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में देखते थे। इसलिए उनकी व्यावहारिक आलोचना-दृष्टि के अंतर्गत बोध की आधुनिकता का वृत्त इतना संकीर्ण कभी नहीं होता कि उसमें आधुनिक लेखक और आधुनिक प्रवृत्तियों के साथ पुरातन लेखक और पारम्परिक मूल्यों की विवेचना के लिए स्थान की कमी पड़ जाये।

एक ओर यदि वे रवींद्रनाथ, शरच्चंद्र, प्रसाद और प्रेमचंद जैसे रचनाकारों पर अपना विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर समान अधिकार के साथ गेटे, शेक्सपियर, चंडीदास, कालिदास जैसी प्राचीन प्रतिभाओं के रचनात्मक दाय के मूल्यांकन का दायित्व भी निभाते हैं। अपने आलोचनात्मक चिंतन की इस दोहरी

सक्रियता के द्वारा जोशी जी परम्परा और समकालीनता—दोनों को परस्पर साक्षी-भाव में उपलब्ध करते हैं। 'रवीन्द्र काव्य की विविध धारायें', 'शरच्चंद्र की प्रतिभा' और 'कामायनी' आदि निबंध लिखते हुए मानो वे इस गौरवानुभूति से भर उठते हैं कि उनके अपने परिवेश की एकदम निकटवर्ती पृष्टभूमि कितनी उर्वरता के साथ वर्तमान रचनाशीलता तक प्रसरित है। 'कामायनी' जैसी कृति पर जोशी जी का निबंध इस बात का भी प्रमाण है कि वे अपनी अग्रज पीढ़ी की ताज़ा से ताज़ा रचनाओं के प्रति कितनी प्रबल जिज्ञासा और ग्रहणशीलता का भाव रखते थे। 'कामायनी' सन् १९३७ में प्रकाशित हुई और उसी वर्ष 'कामायनी' पर जोशी जी का निबंध भी छपा। प्रसाद-साहित्य के एक प्रमुख अध्येता डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के मतानुसार जोशी जी का यह निबंध 'छायावाद की शीर्ष रचना पर आरंभिक समीक्षाओं में है और बड़ी सहानुभूति तथा अंतर्दृष्टि के साथ यहाँ इस गहन रचना का विवेचन हुआ है' ('हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास', पृ. -२७३)।

इसी प्रकार कालजयी सर्जना के कभी न सूखने वाले स्रोतों को तलाशने के लिए जब जोशी जी परम्परा में अवगाहन करते हैं तो 'मानवधर्मी कवि चंडीदास', 'शेक्सपियर का हैमलेट' और 'जीवन का महान विश्लेषक : विराट्वादी कवि गेटे' जैसे अनेक निबंध लिखे जाते हैं।

उपर्युक्त तीनों वर्गों के निबंधों में कई पर सामान्यतया चढ़कर बोलने वाले एक ख़ास रंग की चर्चा भी यहाँ अप्रासंगिक न होगी। जोशी जी के सर्जक व्यक्तित्व ने अनवरत स्वाध्याय के क्रम में जाने-अनजाने जिन प्रभावों को आत्मसात् किया था, उनको पहचान कर जोशी जी की कृतियों के कई समीक्षक प्रायः तरह-तरह के प्रश्नचिन्ह् लगाया करते थे। इन प्रश्नचिन्हों के घेरे में जोशी जी को अपनी मौलिकता की पहचान पर तो ख़तरा मंडराता दिखता ही था, साथ ही साथ अपने कलात्मक आग्रहों और मानव-जीवन संबंधी अपनी समझ के बारे में भी ग़लतफहमियाँ फैलने का अंदेशा नज़र आता था। इसलिए वे अपने आलोचनात्मक लेखन में इन प्रश्नचिन्हों पर अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करना ज़रूरी समझते थे। ख़ासतौर से प्रगतिवाद-विरोध अथवा प्रगतिवाद की संशोधित अवधारणा के प्रस्तुतीकरण में जोशी जी जो उत्साह दिखाते हैं, उस पर उपर्युक्त प्रतिक्रियाजन्य रंग बहुत साफ़ देखा जा सकता है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि उनके आलोचनात्मक लेखन का यह रंग एक प्रकार से रचना के क्षेत्र में उनके आत्मसंघर्ष

का रंग है। यद्यपि इस रंग में आलोचना की किसी सुसम्बद्ध वैचारिकता अथवा बौद्धिक व्यवस्था की खोज करने वालों को संभव है, निराशा ही हाथ लगे। लेकिन उनकी रचनात्मक अदम्यता का प्रमाण तो इससे मिलता ही है। तथाकथित व्यवस्थित आलोचना उनके लेखन का मूल सरोकार है भी नहीं। सच पूछिये तो उनकी आलोचना उनके सर्जक व्यक्तिव की ही एक ख़ास मुद्रा का प्रतिबिम्ब है। अपने सर्जक व्यक्तित्व को लेकर समय-समय पर उन्हें जो आरोप और आक्षेप झेलने पड़े, जिन शंकाओं और संदेहों का शिकार होना पड़ा, उन्हीं का निराकरण करने के क्रम में उन्होंने अनेक आलोचनात्मक निबंध लिखे। इसीलिए उनकी आलोचना में जवाबदेही या स्पष्टीकरण का स्वर प्रायः बार-बार सुनाई पड़ता है—कहीं प्रत्यक्षतः और कहीं परोक्षतः।

प्रगतिवादी आलोचना के ख़ेमे में मनोविश्लेषणवाद को जब 'प्रतिक्रियावाद' का प्रच्छन्न रूप घोषित किया गया तो जोशी जी को लगा कि यह उनके स्वयं के रचनात्मक प्रयासों को कम करके आँकने की साजिश है। परिणामतः उन्होंने 'प्रगति की नयी दिशा' शीर्षक लेख लिखा। इसमें उन्होंने कुओ-मो-जो तथा माओ-त्से-तुंग जैसे चीनी लेखकों के वक्तव्यों में से 'उदारतापूर्ण प्रगतिवादी एप्रोच' को रेखांकित करते हुए भारतीय प्रगतिवादियों की संकीर्णता को ही कोसने में अपनी सारी ताकत नहीं लगा दी, बल्कि मनोविश्लेषणवाद और मार्क्सवाद की परस्पर पूरकता भी सिद्ध कर दिखाई। सार यह दिया कि 'मनोविश्लेषणवाद अंतर्जगत् के क्षेत्र में उसी हद तक प्रगतिशील है जिस हद तक मार्क्सवाद बहिर्जगत् में।' ('साहित्य-चिंतन', पृ.-५८)।

प्रगतिवाद में राजनीतिक प्रतिबद्धता, विचारधारात्मक आग्रह और उद्देश्यगत स्पष्टता आदि तत्वों पर दिये गये बल को भी जोशी जी कभी ज्यों-का-त्यों अपने गले नहीं उतार सके। वर्तमान युग में राजनीति की अर्थवत्ता को तो वे स्वीकार करते हैं, लेकिन 'राजनीति के तुच्छ भ्रमोद्गारों' से आगाह करना वे कभी नहीं भूलते। 'हमारे राष्ट्र का भावी साहित्य और संस्कृति' शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा, 'यदि वर्तमान युग को राजनीतिक युग कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी—पर यह युग स्वार्थ से भरी हुई अत्यन्त हल्के ढंग की ओछी, पोपली राजनीति के तुच्छ भ्रमोद्गार से समस्त विश्व-प्रकृति को आच्छादित कर लेने की झूठी धमकी देता है' ('साहित्य-सर्जना', पृ. - ४३)।

अन्यत्र इसी विषय पर दोबारा अपना मत उन्होंने इन शब्दों में रखा : 'यदि राजनीतिक महत्वाकांक्षा के साथ ही साथ समानांतर रेखा में भीतरी संस्कृति का विकास पूर्ण स्वाधीनता से न होने दिया जाएगा तो सुदूर भविष्य में किसी विशेष महत्त्वपूर्ण परिणाम में हम नहीं पहुँचेंगे।' ('देखा-परखा', पृ. - ९७)। इसी प्रकार साहित्य में सामाजिक सोद्देश्यता के तत्वों पर दृष्टि रखना भी उन्हें अनुचित नहीं लगता। लेकिन इसके लिए रचना से (खासकर काव्य में) अभिव्यक्तिगत स्पष्टता और मूर्तता की आत्यंतिक माँग को वे एक तरह की ज्यादती समझते हैं। 'काव्य में अस्पष्टता तथा रूपक-रस' निबंध में वे लिखते हैं—'लोग कहते हैं कविता एकदम स्पष्ट होनी चाहिए। मैं कहना चाहता हूँ कि श्रेष्ठ कविता का पहला गुण अस्पष्टता है। इस वस्तु-जगत् की स्पष्ट तथा व्यक्त बातों को अस्पष्ट तथा अव्यक्त रूप प्रदान करने के लिए ही कविता की सृष्टि हुई है। अन्यथा उसका कोई उद्देश्य नहीं रह जाए।' ('साहित्य-सर्जना', पृ. - २३-२४)।

किसी भी सैद्धांतिक मतवाद के जड़ व्यामोहों से लोहा लेना बेशक स्वस्थ आलोचना-दृष्टि का पहला दायित्व होता है। लेकिन प्रगतिवाद से लोहा लेने की जिस मुद्रा में इलाचंद्र जोशी उद्यत होते हैं, उसमें कहीं उनके कलावादी नज़रिये का ज़िद्दीपन ज्यादा झलक उठता है तो कहीं मौलिकता-प्रदर्शन का उनका लोभ ! उदाहरण के लिए उपर्युक्त उद्धरण पर ग़ौर कीजिए। यहाँ तक तो ठीक है कि कविता से एकदम स्पष्टता की माँग नहीं की जा सकती। लेकिन कविता में अस्पष्टता की वकालत करते हुए यहाँ तक कह देना कि 'अन्यथा उसका कोई उद्देश्य नहीं रह जाए', क्या एक 'अति' के स्थान पर फिर दूसरी 'अति' को लाद देना नहीं है ? यदि वस्तुजगत् की स्पष्ट और व्यक्त बातों को अस्पष्ट और अव्यक्त रूप प्रदान करने के लिए ही कविता की सृष्टि हुई है तब तो फिर पहेलियों या कूटोक्तियों को ही संसार की सर्वश्रेष्ठ कविता मानना होगा।

जोशी जी की आलोचना-दृष्टि की यह सीमा उनके निबंधों में ही नहीं, उनके उपन्यासों और कहानी-संग्रहों की भूमिकाओं में भी लक्षित की जा सकती है। 'प्रेत और छाया' की भूमिका में वे लिखते हैं—'केवल बाह्य जीवन की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था और उसके परिणामस्वरूप वर्ग-संघर्ष को ही बाहरी और भीतरी जीवन की एकमात्र परिचालिका शक्ति मानना और केवल उसी से संबंध रखने वाले तत्वों की खोज के पथ को प्रगतिशीलता का एकमात्र पथ बताना घोर

भ्रम-मूलक है।' चलिए, जोशी जी का आभार मान लेते हैं कि वे एक 'घोर भ्रममूलक पथ' पर चल पड़ने से हमें बचा रहे हैं। लेकिन यहीं, जिस पथ-निर्देश का उत्साह वे दिखाते हैं,उसमे निहित यथार्थ उनके शब्दों में यह है –'बाह्यजगत् की समस्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रवृत्तियों और व्यवस्थाओं का संचालन मूलरूप से सामूहिक मानव की सामूहिक अज्ञात चेतना के भीतर दबे पड़े असंख्य संस्कारों के ही प्रस्फुटन और विस्फोट द्वारा होता है !' जोशी जी को यह यथार्थ संभवतः युंग के 'सामूहिक अवचेतन' और भारतीय रहस्यवादी अभिवृत्ति के सम्मिश्रण से प्राप्त हुआ है। अपनी इस उपलब्धि पर वे इस क़दर मुग्ध हो जाते हैं कि मनुष्य की 'सामूहिक चेतना' को 'अज्ञात' कहकर वे अपने यथार्थ-बोध को किस उलटी गंगा में बहाने जा रहे हैं–यह भी उन्हें याद नहीं रहता। ऐसी उलटी गंगा बहाने वालों की अच्छी ख़बर एरिक फ्रोम नाम के एक पश्चिमी विचारक ने 'फ़ियर आफ़ फ्रीडम' नामक पुस्तक में ली है। एरिक फ्रोम का उल्लेख यहाँ हम इसलिए भी प्रासंगिक समझते हैं क्योंकि जोशी जी की ही तरह फ्रोम भी मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणवाद की परस्पर पूरकता की संभावना में गहरी रुचि रखने वाले विचारक हैं। फ्रोम मनुष्य की चेतना को 'अज्ञात' कहकर जोशी जी की तरह संतुष्ट नहीं हो जाते। बल्कि वे उसको भी 'एक सामाजिक प्रक्रिया की देन' मानते हैं। फ्रोम लिखते हैं, 'भूख-प्यास, कामेच्छा जैसी-प्राकृतिक वृत्तियाँ मनुष्य-मात्र में समान हैं, लेकिन व्यक्तियों के चरित्र में अन्तर उपस्थित करने वाली प्रवृत्तियाँ, जैसे प्रेम और घृणा, प्रभुत्वाकांक्षा और अधीनता-वृत्ति, ऐंद्रिय वासनाजन्य सुखोपभोग और उससे भय–ये सब उस सामाजिक प्रक्रिया की देन हैं जो मनुष्य को मनुष्य बनाती हैं।' ('फ़ियर आफ़ फ्रीडम', पृ. - ९)।

प्रगतिवाद की रूढ़ियों से टकराने की चेष्टा में व्यक्त हुई जोशी जी की शिकायत-भरी सम्मतियाँ काश, उनके निरे असंतोष से न जुड़ी होतीं। प्रगतिवादी आलोचना की तथाकथित अतियों से बचने के लिए जोशी जी अपनी आलेचना में सन्तुलन के स्व-निर्धारित बिंदुओं को ही तलाशते रह जाते हैं। यह तलाश उनको देर-देर तक कुछ इस तरह ठिठकाये रखती है कि उनके आलोचनात्मक व्यक्तित्व का अपेक्षित विकास संभव नहीं हो पाता। बल्कि उनकी सर्जनात्मक कृतियों में व्यक्त अनुभवों और विचारों से गुज़रते हुए तो ऐसा भी लगता है कि अपने समय की प्रगतिवादी आलोचना के प्रति सचेतनतया चाहे जितना ख़ारिजवादी रुख़ वे अपनाये हुए हों, लेकिन अपनी रचना-यात्रा के अनेक पड़ावों पर प्रगतिवादी प्रेरणाओं से वे

सहज स्फूर्ति भी ग्रहण करते रहते थे। 'जहाज़ का पंछी' में नायक की कला और जीवन-संबंधी मान्यताएँ जिस रूप में अनेक स्थलों पर व्यक्त हुई हैं, उसमें इस तथ्य का चरम निदर्शन मिलता है। उदाहरणार्थ ऐसा ही एक स्थल द्रष्टव्य है। कथानायक लीला से कहता है–'मैंने कला को जीवन की कठोर यथार्थता के बीच से, विकट संघर्षों के भीतर से पाया है। और आपने पाया है जीवन-संघर्ष के अभाव से, अवकाशजनित बौद्धिक विकास से।' ('जहाज़ का पंछी', पृ. - २३०)। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संवाद में दो कला-दृष्टियों का जो द्वंद्व दर्शाया गया है, उसमें वर्ग-चरित्र की अभिव्यक्ति की वही व्याख्या स्वीकृत की गई है जो प्रगतिवादियों के यहाँ मान्य है।

बहरहाल, जोशी जी की आलोचना-दृष्टि के अटकाव या भटकाव चाहे कुछ भी हों, उसमें उनकी अप्रतिहत साहसिकता का रचनाभिमुख स्वरूप सर्वत्र देखने को मिलता है। साहित्य के विषय में उनकी मर्मज्ञता ही नहीं, बल्कि साहित्य के प्रति उनकी ममता भी उसमें भरपूर बोलती है। उनकी आलोचनात्मक मान्यताओं से कौन कितना सहमत होता है और कौन कितना असहमत, यह प्रश्न उनके लिए गौण है। अपने एक निबंध-संग्रह 'साहित्य-सर्जना' की भूमिका में वे निवेदन करते हैं–'मैं नहीं जानता कि मेरे विचारों से कितने पाठक सहमत होंगे, पर यदि साहित्य-मर्मज्ञ इसमें सहृदयता तथा अन्तरानुभूति का कुछ भी लेश पाएंगे तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।' निस्संदेह आलोचना के क्षेत्र में जोशी जी का श्रम सार्थक हुआ है क्योंकि उसमें पाठकों को सहृदयता भी मिलती है, अन्तरानुभूति भी–और वह भी सिर्फ़ लेश नहीं, बल्कि भरपूर !

अड़ोस-पड़ोस और निजी वैशिष्ट्य

जन्म तथा प्रथम औपन्यासिक कृति के प्रकाशन-वर्ष की दृष्टि से देखा जाये तो इलाचंद्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेंद्र–ये तीनों ही अड़ोस-पड़ोस के लेखक हैं। इलाचंद्र जोशी (जन्म - १९०२) के उपन्यास 'घृणामयी', 'भगवतीचरण वर्मा (जन्म - १९०३) के 'पतन' तथा जैनेंद्र (जन्म - १९०५) के 'परख' का प्रकाशन लगभग एक साथ ही हुआ– सन् १९२९ में। जैनेंद्र को जितनी ख्याति अपने पहले ही उपन्यास 'परख' से मिली, उतनी न तो जोशी जी को 'घृणामयी' से मिल सकी, न भगवतीचरण वर्मा को 'पतन' से। लेकिन फिर भी 'घृणामयी' के ऐतिहासिक महत्व को नज़र-अंदाज़ नहीं किया जा सकता। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि 'घृणामयी' का प्रकाशन भले ही 'पतन' ओर 'परख' के साथ हुआ हो, लेकिन जोशी जी उसे लिख सन् १९२७ में ही चुके थे और मनुष्य के चरित्रगत विचलन या स्खलन के लिए ज़िम्मेदार भावनात्मक वस्तु-स्थितियों की सहानुभूति-प्रसूता समझ के साथ, मनोविश्लेषणवादी शैली का इस उपन्यास में सचेत प्रयोग करके औपन्यासिकता की एक नई दिशा के प्रति अपने उत्साह का संकेत भी उन्होंने कर दिया था। इसलिए कह सकते हैं कि भगवतीचरण वर्मा अपनी प्रथम कृति 'पतन' में जिस जीवन-दर्शन के प्रस्तोता बनकर उपस्थित हुए, उसकी आधारभूमि पर जोशी का पदार्पण पहले ही हो गया था और 'परख' में जैनेंद्र द्वारा मनोविश्लेषणात्मकता के प्रति जो उत्साह दिखाया गया, उपन्यास की रचनाभूमि पर उसका बीज-वपन भी जोशी जी जैनेंद्र से पहले ही कर चुके थे। दूसरी बात यह कि व्यक्तिवादी कथाकारों के बीच जोशी जी की अपनी व्यक्तिवादी चेतना को सामाजिक संभावना वाले जो आयाम कुछ विशिष्ट बनाते हैं, उनकी एक कच्ची रूपरेखा भी 'घृणामयी' में ही तैयार हो चुकी थी।

'पतन' में समाज की परम्परागत मर्यादावादी नैतिक दृष्टि पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए भगवतीचरण वर्मा पाप-पुण्य की बनी-बनाई परिभाषाओं से अलग हटकर मनुष्य के आचरण को उसकी परिस्थिति और मनःस्थिति के परिप्रेक्ष्य में आँकने की

ज़रूरत दिखाते हैं। जोशी जी को इस ज़रूरत का अहसास पहले ही हो चला था। यद्यपि इस सन्दर्भ में जोशी जी से भी पहले पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' को याद किया जा सकता है क्योंकि समाज की तथाकथित मर्यादावादिता की बखिया उधेड़ने का सिलसिला उन्हीं के यहाँ से ('दिल्ली का व्यभिचार' और 'चाकलेट' आदि कृतियों से शुरू हो जाता है। लेकिन उग्र के यहाँ का वह सिलसिला मात्र उनके अनुभव-सम्पन्न उन्मुक्त व्यक्तित्व की आक्रामकता का परिचायक बनकर रह गया। जोशी जी की विशेषता यह है कि उन्होंने इस सिलसिले को, जो उग्र के यहाँ प्रकृतवादी अराजकता या उच्छृखंलता की ओर जाता था, संयमित करने के लिए पहली बार एक अनुशासन दिया—अपने स्वाध्याय-अर्जित शास्त्र-ज्ञान के द्वारा। बेशक उग्र के विद्रोही व्यक्तित्व के पास प्रत्यक्ष अनुभवों की जैसी विपुल संपदा थी, जोशी जी के पास वह नहीं थी। लेकिन जोशी जी की गाँठ मे स्वाध्याय की पूंजी तो थी ही। जितनी लगन से उन्होंने इसे कमाया था, उतनी ही लगन से उन्होंने अपने कथाजगत में अवतीर्ण पात्रों को इसे लुटाया भी। यह बात अलग है कि जोशी जी को रचना-यात्रा में कई जगह अपनी इस लगन का ख़ामियाज़ा भी भुगताना पड़ता है। लेकिन इससे यह तो प्रमाणित होता ही है कि समाज की निगाह में गिरे हुए और घृणास्पद व्यक्तियों की वेदना का कितना तीव्र अहसास जोशी जी के कलाकार मन को रहता है।

'घृणामयी' की नायिका (लज्जावती) इसी अहसास की प्रथम सृष्टि थी। वह जो कुछ करती है, किस मनःस्थिति में करती है, यह उसी के शब्दों में सुनिये—'अचानक पंख-छिन्न हो जाने पर जिस प्रकार आकाश में उड़ता हुआ पक्षी शून्य में कहीं कोई सहारा न पाकर फड़फड़ाता है, उसी तरह तेरा मन भी बेचैनी के सबब से छटपटाने लगा।' अपनी नायिका की यह पुकार जोशी जी अपनी पहली औपन्यासिक रचना में अकारण ही नहीं दर्ज करते हैं। इसका उद्देश्य है कि उनकी लज्जावती के कृत्यों को सहानुभूतिपूर्वक समझने की चेष्टा की जाए। उपन्यास का नामकरण भी इसी चेष्टा के एक अंग के तौर पर देखा जा सकता है। मानो जोशी जी कहना चाह रहे हों कि देखा, समाज जिसे 'घृणामयी' का खिताब बख़्श रहा है, मैं उसी लज्जावती को अपने उपन्यास की नायिका बनने का गौरव देता हूँ। हालांकि यह चेष्टा पूर्णतया फलीभूत न हो सकी। कुछेक समीक्षाओं में, जो 'घृणामयी' के प्रकाशित होने पर सामने आई थीं, उसे सिर्फ़ इतने भर के लिए सराहा गया कि 'इसका अंत वास्तव में बड़ा सुन्दर

और मनोहर है। एक उच्छृंखल तथा स्वतंत्र कन्या की जैसी बुरी गति होनी चाहिए, लज्जावती की वही गति हुई।' (–अवध उपाध्याय, 'सुधा' : अक्तूबर १९२९)। इस तरह के अभिमतों के मूल में कुछ हाथ तो 'घृणामयी' की प्रथम-प्रयासगत अपरिपक्वता का माना जा सकता है और कुछ उस उपन्यास के प्रति बरती गई तत्कालीन आलोचनागत असावधानी का भी।

जहाँ तक जैनेंद्र के उपन्यास 'परख' और जोशी के उपन्यास 'घृणामयी' में मनोविश्लेषणवाद के प्रथम प्रयोग का प्रश्न है, जोशी जी के यहाँ मनोविश्लेषण की साग्रहता शुरू से ही जैनेंद्र की अपेक्षा ज़्यादा स्पष्ट दिखाई देने लगती है। जैनेंद्र के यहाँ मनोविश्लेषणात्मकता उनकी दार्शनिक अभिवृत्ति से ढँकी मिलती है। इसलिए उसमें स्थूलता के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। सूक्ष्मता ही उसका मूल गुण है। जैनेंद्र का मानना है : 'जो तीर की तरह अंतः तक जा लगे, बुद्धि के पटल और जाल को भेदकर मर्म में घुस जाये और हलचल उपस्थित कर दे–वह सच्ची चीज़ है, उपादेय है और वह जीने और जिलाने के लिए आई है' ('परख', पृ. - ४)। जोशी को अंतर्भेदी तीर नहीं, 'अंतःप्रवेशक अस्त्र' चाहिए था (द्रष्टव्य 'साहित्य-चिंतन', पृ. - ५७) जो उन्हें मनोविश्लेषणशास्त्र के रूप में मिला। जोशी को इस 'अस्त्र' की 'अंतःप्रवेशता' पर तो भरोसा है ही, साथ ही साथ यह भी विश्वास है कि यह मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के 'पूर्ण ज्ञान' का माध्यम भी है। अपने उपन्यास 'प्रेत और छाया' के प्रकाशन पर उठने वाले एक विवाद का समाधान करते हुए जोशी जी ने लिखा थाः 'यथार्थ उन्नति, वास्तविक प्रगति उन मूल प्रवृतियों के अस्वीकरण से नहीं, बल्कि उनके पूर्ण ज्ञान के बाद उनके सुसंस्करण तथा उदात्तीकरण द्वारा हो सकती है–यही बात मैंने बार-बार घोषित की है–' ('विवेचना', पृ. - १५७)। जैनेंद्र के लिए ज्ञान की पूर्णता-अपूर्णता का कोई मतलब ही नहीं है। उनका यथार्थ-दर्शन यह है–'यथार्थ यथार्थ है और तत्संबंधी हमारी समझें (ज्ञान-विज्ञान) हमारे ही घरौंदे हैं। सच सबके पार है।' ('कल्याणी', पृ. - १०१)। जैनेंद्र के यहाँ जो सच 'ज्ञान-विज्ञान' सबके पार है, जोशी के यहाँ उसे 'ज्ञान-विज्ञान' के भीतर से उपलब्ध करने की कोशिश मिलती है। इसलिए जोशी के यहाँ मुनि-नुमा दार्शनिक कुहासा नहीं मिलता, स्पष्टता मिलती है। जोशी जी अपने लेखक की सार्थकता दार्शनिक होने में नहीं, दर्शकमात्र होने में मानते हैं। अपने उपन्यास 'निर्वासित' की भूमिका में वे लिखते भी हैं–' मैं जीवन का एक विनम्र दर्शक मात्र हूँ। जीवन में घटित होने वाली कुछ विशेष

घटनाओं को लेकर उन्हें कुछ विशेष पात्रों के जीवन-सूत्र में पिरोकर अपनी योग्यतानुसार उनका यथार्थ चित्र अंकित करने का प्रयास-भर मैं करता हूँ।'

वैयक्तिक चेतना को कथा-संवेदना के केंद्र में रखने वाले रचनाकारों में जैनेंद्र को जोशी का सबसे निकटस्थ पड़ोसी माना जाता है। वै· बाद में यहीं-कहीं आस-ही-पास अज्ञेय भी देखे जाते हैं। अज्ञेय वय में जोशी जी से लगभग नौ वर्ष छोटे हैं। और इसी हिसाब से जब उनका पहला उपन्यास ('शेखर : एक जीवनी', भाग-१) छपता है सन् १९४१ में, तब तक जोशी जी का दूसरा उपन्यास आ चुका होता है—'संन्यासी'। यह दूसरा उपन्यास जोशी जी की प्रतिभा को उपन्यास प्रेमियों के बीच पुष्ट परिचय के दायरे में लाने वाला पहला सोपान बनता है। लेकिन इस बार भी हिंदी की पहली पंक्ति की औपन्यासिक कृतियों में स्थान पाकर जितनी चर्चा का विषय 'शेखर : एक जीवनी' बनता है, 'संन्यासी' नहीं बन पाता।

जिस प्रकार किसी भी वस्तु को साफ़-साफ़ देखने के लिए उस वस्तु और आँख के बीच एक निकटतम दूरी का होना ज़रूरी होता है, संभवतः उसी प्रकार रचनाकारों के सम्यक् अनुशीलन के लिए आलोचना-दृष्टि को इनसे कुछ दूरी अर्जित करने का मौक़ा अपेक्षित होता है। जोशी, जैनेंद्र और अज्ञेय—इन तीनों के अपने-अपने वैशिष्ट्य और अंतर को आँक पाने की कोशिश करना अब शायद कुछ ज़्यादा सही ढंग से संभव हो सके, क्योंकि इन तीनों कृती कथाकारों से एक निकटतम दूरी तो आज की आलोचना-दृष्टि ने अर्जित कर ही ली है।

जोशी जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अपने रचनात्मक मिजाज में व्यक्तिवादी तत्त्वों के सन्निवेश के बावजूद, सामाजिक चिंताओं को सर्वथा झटककर वे अपने पात्रों में अंतर्लीन नहीं होते हैं। वैयक्तिक चेतना पर पड़ने वाले सामाजिक दबावों को नापने वाला कोई न कोई बैरोमीटर जोशी जी अपनी सर्जनात्मकता के हाथों में बराबर लिये रहना चाहते हैं। जैनेंद्र को ऐसे किसी बैरोमीटर की कोई ख़्वाहिश नहीं रहती क्योंकि वे सामाजिकता के दबाव से ज़्यादा वैयक्तिकता के उभार का घनीभूत अनुभव प्रस्तुत करने में दिलचस्पी रखते हैं। इसलिए जैनेंद्रजी में संवेदना का संघनन मिलता है जो उनकी कृतियों को विशेष मर्मस्पर्शी बनाता है। जोशी जी को यह संवेदनात्मक संघनन स्पृहणीय नहीं है। वे अपने पात्रों में अंतर्लीन होने के मुक़ाबले उनके अंतरावलोकन के लिए तत्पर होने में अधिक कृतकार्यता मानते हैं। पात्रों के अंतरावलोकन के क्रम में ही जोशीजी वैयक्तिक अहंभाव की अभिव्यक्तियों

के विकृत रूपों को पहचान पाते हैं और फिर सामाजिक स्वास्थ्य के लिए उन विकृतियों के मूल में निहित ग्रंथियों को खोलना अपनी रचनात्मकता का मुख्य दायित्व मानते हैं।

वैयक्तिक अहंभाव की विद्रोही अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में अभी कुछ देर पहले हम उग्र, जोशी और भगवतीचरण वर्मा की रचनाओं में कतिपय सूत्र टटोल आये हैं। जैनेंद्र और अज्ञेय को भी इस वृत्त में शामिल करके देखने से विद्रोह की व्यक्तिवादी भंगिमा का एक समग्र परिदृश्य हमारी नज़र में आ सकता है और तब हम जोशी जी के प्रयास के औचित्य को और भी स्पष्टता में पहचान सकते हैं। उग्र की रचनाओं में विद्रोह की अभिव्यक्ति मात्र रहस्योद्घाटन तक सीमित है। वहाँ सारी आक्रामकता एक चौंकाऊ शैली में समाज का भंडा-फोड़ करने में ही चुक जाती है। वर्मा के यहाँ व्यक्त विद्रोह 'परिस्थितिवादी' और विक्षोभ-जन्य है। उसमें उद्वेग है लेकिन मात्र वैसा ही उद्वेग, जिसे विजयदेवनारायण साही के शब्दों में केवल 'एक स्वप्निल शक्ति-प्रवाह' की संज्ञा दी जा सकती है। जैनेंद्र के पात्रों में विद्रोह की अभिव्यक्ति प्रायः आत्म-द्रोह के रूप में ही अधिक होती है। इसीलिए उनके पात्र (खासकर स्त्री-पात्र) आत्म-पीड़न में सुख लेते देखे जाते हैं। अज्ञेय के यहाँ, जैसा कि खुद अज्ञेय कहते हैं, 'विद्रोही बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं।' यानी वहाँ भगवतीचरण वर्मा जैसा कोई 'परिस्थितिवाद' भी नहीं है। अलबत्ता 'अस्तित्ववादी' प्रेरणाएँ उसमें हैं। उपर्युक्त सभी लेखकों से भिन्न जोशी जी के पात्र इस मामले में बहुत अलग दिखते हैं। जोशी जी के पात्रों में परिस्थिति और मनःस्थिति की उभयस्पर्शी रेखाएँ ज़्यादा साफ़ उकेरी गई हैं और उनकी अहंभावना के साथ जोशी जी का रचनात्मक सलूक अधिकतर उपचारोन्मुख रहा है। इसीलिए जोशी जी के पात्रों में कई ऐसे पात्र हमें मिल जाएंगे (जैसे– 'पागल की सफ़ाई' का नारायन भइया, 'प्रतिशोध' का जीत, 'आहुति' का श्यामनाथ तथा 'जहाज़ का पंछी' उपन्यास का कथानायक आदि) जिनमें विद्रोह की परिणति सामाजिक भंडाफोड़, रोमानी उद्वेग, आत्म-द्रोह-जन्य आत्मपीड़न अथवा परिस्थिति-मुक्त जन्मजात संस्कार के रूप में ही होकर नहीं रह जाती।

जोशी जी अपना आदर्श उस श्रेणी के लेखकों को मानते हैं जिनमें 'व्यक्ति के अवचेतनात्मक भावों के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा उसके समाजघाती अहंभाव को ध्वस्त करना' मूल उद्देश्य माना जाता है। ('प्रगति की नयी दिशा' शीर्षक लेख,

'साहित्य-चिंतन', पृ. - ५७)। इसलिए जोशी जी अपने यहाँ विद्रोह को किसी भी रूप में समाज-द्रोह का पर्याय नहीं बनने देना चाहते।

परिस्थितियों के घात-प्रतिघात और विद्रोह की मनः स्थिति के सम्बन्ध को लेकर कहीं-कहीं ऐसा लग सकता है कि जोशी और अज्ञेय, दोनों का स्वर समान है। अज्ञेय कहते हैं—'विद्रोह-बुद्धि परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से नहीं निर्मित होती। वह आत्मा का कृत्रिम परिवेष्टन नहीं, उसका अभिन्नतम अंग है।' ('शेखर : एक जीवनी', प्रवेश)। जोशी जी अहंवादी संस्कार की चर्चा करते हुए कहते हैं—'यह चेतना के स्तर-प्रति-स्तर में जमा संस्कार सहज में उखड़ने वाली चीज़ नहीं है। ऊपरी आघातों का कोई भी प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता, बल्कि इस प्रकार के बाहर से आने वाले आघातों से वह संस्कार अपने को अवचेतना की ओर अधिक गहराई में छिपाकर आत्म-रक्षा करता है।' (साहित्य-चिंतन', पृ. - ५७)। अज्ञेय और जोशी के इन कथनों में स्वर की समानता की चर्चा भी बेशक की जा सकती है। लेकिन दोनों के स्वर में कोई असमानता है ही नहीं, ऐसा नहीं माना जा सकता। अहंभाव के साथ जो विद्रोह-बुद्धि कार्य करती है, अज्ञेय की दृष्टि में वह 'आत्मा का अभिन्नतम अंग है'। जोशी के यहाँ ज़ोर उसकी 'अभिन्नतमता' पर नहीं है। जोशी जी की दृष्टि में अहंभाव का चेतना से संबंध इतना मज़बूत तो है कि वह 'सहज में उखड़ने वाली चीज़ नहीं है' लेकिन उतना अभिन्नतम वह नहीं है जितना अज्ञेय बता रहे हैं।

फिर एक फ़र्क 'चेतना' और 'आत्मा' का भी है। 'चेतना' की सत्ता 'आत्मा' की सत्ता की तुलना में कुछ ज़्यादा भौतिक है, इसलिए कुछ ज्यादा मूर्त भी हो सकती है। 'आत्मा' की अमूर्तता अज्ञेय की ही प्रवृत्ति के अनुकूल है। जोशी जी को मूर्तता अधिक रास आती है—इतनी अधिक, कि फिर चाहे कलात्मकता की दृष्टि से उसे निहायत स्थूल हो जाने का आरोप भी क्यों न झेलना पड़े। परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से उसके स्वरूप-निर्माण में कोई फ़र्क न पड़ता हो—ऐसा जोशी जी के कथन में कहीं ध्वनित नहीं होता। जोशी जी कहना यह चाहते हैं कि बाहरी घात-प्रतिघात से व्यक्ति का अहम् कुछ इस तरह प्रतिक्रिया करता है कि उसमें अपने को बचाकर रखने का भाव और अधिक तेज़ हो जाता है। दूसरी बात यह भी कि अज्ञेय की तरह जोशी जी व्यक्ति के अहम् की चरितार्थता को मुग्ध भाव से देखते नहीं रह जाते, बल्कि उसकी समाज-द्रोही अभिव्यक्ति की आशंका से चिंतित होकर उसके निराकरण के लिए उपाय करते हैं। इसीलिए वे दिखाते चलते हैं कि

किस तरह उनके पात्रों में विद्रोह-बुद्धि परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से प्रतिकृत होती है। यह विद्रोह-बुद्धि जोशी जी के पात्रों में असाधारणता या अपसाधारणता की जननी बनती है। जोशी जी इसी को 'मनोविश्लेषण के अंतःप्रवेशक अस्त्र' से परखने के लिए अपना रचनात्मक वितान तानते हैं।

डा० नामवर सिंह ने एक स्थान पर सामाजिक यथार्थवाद के लिए एक ख़तरे के रूप में मनोविश्लेषणवाद का उल्लेख करते हुए लिखा है—'एक ख़तरा तो मनोविश्लेषणवाद की ओर से है जिसमें या तो शेखर और भुवन जैसे सर्वथा अहंवादी और असाधारण पात्रों की सृष्टि की जाती है अथवा इलाचंद्र जोशी के सेक्सग्रस्त अद्‌भुत नायकों का निर्माण होता है।' ('आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', पृ. - ११६)। इस कथन पर निस्संदेह यहाँ तक तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि जोशी और अज्ञेय, दोनों की विशेष रूचि अपने पात्रों के व्यवहार में असाधारणता को उकेरने की रहती है जबकि प्रगतिवादी कथा-चेतना की विशेष रूचि मनुष्य की साधारणता की शक्ति पहचानने में ज्यादा होनी चाहिए। लेकिन सवाल यह है कि क्या जोशी की रूचि और अज्ञेय की रूचि की रचनात्मक निष्पत्तियों में कोई अंतर ही नहीं है। नामवर जी अगर यह देखने की कोशिश कर लेते कि जोशी जी के पात्रों में कई बार किस तरह 'असाधारणता' का उन्मोचन 'साधारणता' में होता चलता है तो शायद उन्हें जोशी जी के पात्रों की 'असाधरणता' उतनी ख़तरनाक न मालूम पड़ती। जहाँ तक जोशी जी नायकों के साथ 'अद्‌भुत' विशेषण लगाने का प्रश्न है, तो उस विशेषण का राज़ सिर्फ़ यह है कि जोशी जी की रचना-दृष्टि के पास जीवन से सीधे पाए गये प्रत्यक्ष अनुभवों की जमा-पूंजी बहुत ज्यादा नहीं है। इसीलिए उनके पात्र कहीं-कहीं नितान्त 'गढ़े-हुए-से' मालूम पड़ते हैं और इसीलिए 'अद्‌भुत' भी। लेकिन इससे जोशी जी की रचना की उद्देश्य-परकता पर ही शक करने लग जाना उचित नहीं कहा जा सकता।

जोशी जी को इस बात का बोध हमेशा रहा कि मनोविश्लेषण की जिस शैली का उपयोग वे कर रहे हैं, उसका उपयोग एक दूसरे उद्देश्य के लिए भी किया जा सकता है और किया जा रहा है। इसी को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने मनोविश्लेषण-शैली के अंतर्गत दो प्रकार के लेखकों का उल्लेख किया है। (द्रष्टव्य : 'प्रगति की नयी दिशा' शीर्षक लेख, "साहित्य-चिंतन', पृ. - ५७)। 'एक तो वे जो व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को अपनाकर व्यक्ति के अहम् को प्रमुख महत्त्व देते हैं और

उस अहंभाव की पूर्ण चरितार्थता को अपना अंतिम लक्ष्य मानकर उस चरितार्थता के मार्ग में उठने वाले मानसिक रोड़ों के विश्लेषण को ही साहित्य कला का अथ और इति मानते हैं।' कहने की आवश्यकता नहीं कि जैनेंद्र और अज्ञेय में मनोविश्लेषण की शैली का प्रयोग प्रायः इसी मान्यता के अनुरूप हुआ है। दूसरा वर्ग उन लेखकों का है जिनका उद्देश्य 'व्यक्ति के अवचेतनात्मक भावों के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा उसके उस समाजघाती अहंभाव को ध्वस्त करने का होता है जो उसके, सामूहिक जनता के साथ एक रूप में सम्मिलित होने के मार्ग में सबसे बड़े अवरोध के रूप में खड़ा रहता है।' मनोविश्लेषणवादी शैली के उपयोग में जोशी जी का लेखकीय व्यक्तित्व दरअसल इसी दूसरे वर्ग के लेखकों का प्रतिनिधित्व करता है।

जोशी जी अपने लेखन को 'मध्यवर्गीय बौद्धिक समाज के मस्तिष्क के सूक्ष्मतम कोषों में कूट-कूट कर भरे हुए बूर्ज्वा संस्कारों को उधेड़ने' का एक उपाय बनाना चाहते थे। उन्होंने अपने समय के प्रगतिवादी आलोचकों के समक्ष एक प्रश्न रखा था- 'जो मनोवैश्लेषिक कलाकार इस प्रकार के उपायों द्वारा जनवादी मनोभावना के लिए ज़मीन तैयार करते हैं, उनका कार्य क्या दूसरे प्रगतिशील कलाकारों से कुछ कम महत्वपूर्ण है ?' ('साहित्य-चिंतन', पृ. - ५७)। जोशी जी के अपने उपायों की सीमाएँ चाहे कुछ भी रही हों, लेकिन उनका यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित ही है। जोशी जी का कृतित्व इस प्रश्न से जूझने के लिए आज भी हमारा आह्वान करता है।

परिशिष्ट

इलाचंद्र जोशी की प्रकाशित कृतियों की सूची

उपन्यास

१.	घृणामयी	(१९२९)
२.	संन्यासी	(१९४०)
३.	पर्दे की रानी	(१९४२)
४.	प्रेत और छाया	(१९४४)
५.	निर्वासित	(१९४६)
६.	मुक्तिपथ	(१९४८)
७.	सुबह के भूले	(१९५१)
८.	जिप्सी	(१९५२)
९.	जहाज़ का पंछी	(१९५४)
१०.	ऋतुचक्र	(१९६९)
११.	भूत का भविष्य	(१९७३)
१२.	कवि की प्रेयसी	(१९७६)

कविता संग्रह

१.	विजनवती	(१९३७)

कहानी-संग्रह

१.	धूपलता	(१९३८)
२.	दीवाली और होली	(१९४२)
३.	रोमांटिक छाया	(१९४३)
४.	आहुति	(१९४५)
५.	खंडहर की आत्माएँ	(१९४८)

६. डायरी के नीरस पृष्ठ (१९५१)
७. कँटीले फूल लजीले काँटे (१९५७)
८. मेरी प्रिय कहानियाँ (१९७०)

समालोचना तथा निबंध-संग्रह

१. साहित्य-सर्जना (१९३८)
२. साहित्य-संतरण (१९४३)
३. विवेचना (१९४८)
४. विश्लेषण (१९५४)
५. शरत-व्यक्ति और कलाकार (१९५४)
६. साहित्य-चिंतन (१९५५)
७. रवींद्रनाथ ठाकुर (१९५६)
८. देखा-परखा (१९५७)

विविध

१. ऐतिहासिक कथाएँ (१९४२)
२. उपनिषदों की कथाएँ (१९४३)
३. गोर्की के संस्मरण (१९४३)
४. इक्कीस विदेशी उपन्यासकार (१९४४)
५. महापुरुषों की प्रेमकथाएँ (१९५४)
६. सूदखोर की पत्नी तथा दोस्ताएव्स्की की दो कहानियों का अनुवाद (१९५४)